हिन्दी भक्ति आन्दोलन
और
मार्क्सवादी मूल्यांकन

हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद की पी-एच डी. (हिन्दी) उपाधि के लिए
प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

1996

प्रस्तुतकर्त्री :

साजिदा ख़ानम

एम. फिल्.

अध्यक्ष :

डॉ० वेंकटरमण राव

एम. ए. (हिन्दी), एम. ए. (तेलुगु), पी-एच.डी.
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद ।

निर्देशक :

डॉ० विजेन्द्र नारायण सिंह, डी. लिट्.
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद ।

प्रमाण-पत्र

मैं प्रमाणित करता हूँ कि हैदराबाद विश्वविद्यालय को पी-एच.डी. उपाधि के निमित्त सुश्री साजिदा खानम् द्वारा कृत " हिन्दी भक्ति-आन्दोलन और मार्क्सवादी मूल्यांकन " शीर्षक शोध-प्रबन्ध एक मौलिक कृति है जो साजिदाखानम के अध्ययन, स्वाध्याय का प्रतिफल है ।

मेरी जानकारी में अब तक इस विषय पर किसी को भी इस शोध- सम्बन्धी उपाधि प्रदान नहीं की गयी है ।

साथ ही मैं यह अनुशंसा करता हूँ कि सुश्री साजिदाखानम् पी-एच.डी. उपाधि हेतु सर्वथा उपयुक्त शोधार्थी है ।

विजेन्द्रनारायणसिंह
25/3/96

(डॉ. विजेन्द्रनारायण सिंह)
प्रो. हिन्दी विभाग
हैदराबाद विश्वविद्यालय
हैदराबाद

Name of the research scholar: SAJIDA KHANAM

Department / Centre: HINDI

University of Hyderabad

This is to certify that I, SAJIDA KHANAM have carried out the research embodied in the present thesis for the full period prescribed under the Ph.D. Ordinances of the University.

I declare that no part of this thesis was earlier submitted for the award of any research degree or diploma to any university.

Sajida Khanam
25-3-96
SIGNATURE

DATE: 25-03-1996

B. N. [signature] 25/3/96
(RESEARCH SUPERVISOR)

[signature] 25/3/96
(HEAD OF DEPARTMENT/CENTRE)
Prof. & Head, Dept. of Hindi
School of Humanities
University of Hyderabad
HYDERABAD-500 134

[signature]
(DEAN OF SCHOOL)
DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
University of Hyderabad.
Hyderabad-500 134.

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

भक्ति-आंदोलन और हिन्दी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक

भक्ति-आंदोलन	पृ॰ संख्या
(क) हिन्दी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक	5
1॰ गजानन माधव मुक्तिबोध	5
2॰ रमेशकुंतल मेघ	7
3॰ रामविलास शर्मा	11
4॰ राँगेयराघव	15
5॰ नामवरसिंह	18
6॰ शिवकुमार मिश्र	20
7॰ मैनेजर पाण्डेय	21
8॰ अन्य आलोचक	23
(ख) प्रमुख मार्क्सवादी इतिहासकार	24
1॰ दामोदर धर्मदास कोसाम्बी	24
2॰ इरफ़ान हबीब	26
3॰ रशीद	28
4॰ रामशरण शर्मा	29
5॰ हरबंस मुखिया	32
6॰ सतीशचन्द्र	35
7॰ हीरेनगोहेन	39
8॰ एम॰जी॰एस॰ नारायणन और वेलुतट केशवन	40
निष्कर्ष	41

द्वितीय अध्याय

भक्ति-आंदोलन के उद्भव और विकास के कारण

प्रस्तावना	पृ॰संख्या
(क) सामाजिक परिस्थितियाँ	45
1. जाति-व्यवस्था	45
2. नारी	48
(ख) आर्थिक परिस्थितियाँ	52
1. कृषक, कारीगर, शिल्पी तथा व्यापारी वर्गों का उदय	53
(ग) राजनीतिक परिस्थितियाँ	60
(घ) धार्मिक परिस्थितियाँ	64
(च) साहित्यिक, सॉंस्कृतिक परिस्थितियाँ	69

तृतीय अध्याय

भक्ति-आंदोलन का वैचारिक आधार

(क) विचारधारा	80
(ख) सामन्तवादी और ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण	82
(ग) सामन्त विरोधी और ब्राह्मण विरोधी दृष्टिकोण	96
(घ) सामाजिक द्वन्द्व	104
(च) लोकजीवन	113
निष्कर्ष	126

चतुर्थ अध्याय

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भक्ति-आंदोलन

पृ॰संख्या

(क) भौतिकवाद	131
(ख) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद	133
(ग) ऐतिहासिक भौतिकवाद अथवा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या	135
1. आधार	139
2. अधिरचना	139
(घ) वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत	141
(च) ऐतिहासिक भौतिकवाद और भक्ति-आंदोलन	145
निष्कर्ष	157

पंचम अध्याय

भक्ति-आंदोलन में वर्ग-संघर्ष

(क) वर्ग-संघर्ष	160
(ख) वर्ग-संघर्ष -- भक्ति-आंदोलन	165
1. अर्थपरक संघर्ष	167
2. जातिपरक संघर्ष	170
3. धार्मिक संघर्ष	175
4. वृत्तिपरक संघर्ष	180
5. सामंत-किसान संघर्ष	182

छठा अध्याय

भक्ति-आंदोलन के सामाजिक संदर्भ

	पृ॰संख्या
1॰ भक्तकवियों का भौतिक जीवन	185
2॰ सामाजिक यथार्थताएँ	190
3॰ भक्ति की महिमा	212
4॰ गुरु की महिमा	218
5॰ प्रेम तत्व	222
6॰ नारी-जीवन	228
7॰ मानवतावाद	235
8॰ निर्गुण-सगुण की समस्या	239
9॰ जन-भाषा	246

सातवाँ अध्याय

भक्ति-आंदोलन में अवतारवाद और लीला

1॰ अवतारवाद	248
2॰ लीला	262
3॰ भक्तिकाव्य में अवतारवाद	266
उपसंहार	284
सहायक ग्रंथ सूची	301

प्राक्कथन

भक्ति-आंदोलन मध्यकालीन भारत का एक राष्ट्रव्यापी जन-आंदोलन है। इस आंदोलन के नेता कोई राजनेता नहीं, कोई शासक नहीं और न किसी एक वर्ण अथवा जाति विशेष के ही व्यक्ति हैं। इसकी ख़ासियत यह है कि इस आंदोलन का नेतृत्व सन्तों ने किया है, जो जन-साधारण में उत्पन्न हुए थे। इस आंदोलन की शुरुआत निम्न जाति एवं निम्न वर्गों के लोगों से होती है और इसमें विशेष रूप से शोषित और दलित वर्गों का हित निहित है।

"भक्ति-आंदोलन" नाम से ही एक सामान्य विचार यह उत्पन्न होता है कि यह एक धार्मिक-आध्यात्मिक आंदोलन है, जो भक्ति के विस्तृत प्रचार-प्रसार के लिए उठाया गया हो। परंतु जब इसके उद्भव और विकास के मूलवर्ती कारणों की खोज़बीन के तहत, इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की ओर दृष्टिपात करते हुए, युगीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों के अध्ययन से पता लगता है कि इसके विराट रूप धारण करने के मूल में जन-साधारण का ही योगदान था जो अपने समकालीन सामाजिक जीवन से असंतुष्ट थे और जिनका अस्तित्व समाज में मनुष्य का नहीं बल्कि उच्च वर्णों और वर्गों के लिए सुविधाएँ जुटाने तक ही था।

भक्ति-आंदोलन को इस प्रकार युगीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में परखने का विचार हमें मार्क्सवाद देता है। "मार्क्सवाद" एक भौतिकवादी दर्शन है, जो मानव संबंधों, स्थितियों को उसके द्वन्द्वात्मक रूपों में देखता है। इसी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आधार पर भक्ति-आंदोलन का मूल्यांकन किये जाने के कारण ही भक्ति-आंदोलन का एक "जन-आंदोलन" होने का तथ्य हमारे सामने आता है।

आलोचना-क्षेत्र में इस विषय पर मेरी रुचि के प्रति ध्यान देते हुए निर्देशक डॉ॰ विजेन्द्र नारायण सिंह जी ने "हिन्दी भक्ति-आंदोलन और मार्क्सवादी मूल्यांकन" शीर्षक से इस विषय को दिया है।

इस विषय पर अब तक कुछ आलोचनात्मक निबंध आये थे, जिनके आलोचकों के नाम और परिचय हम अपने इस शोध प्रबन्ध के प्रथम अध्याय "भक्ति-आंदोलन और हिन्दी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक" में दिया है। इसमें हमने मुख्य रूप से डॉ॰ गजानन माधव मुक्तिबोध, डॉ॰ रांगेयराघव, डॉ॰ रामविलास शर्मा, डॉ॰ रमेशकुंतल मेघ, डॉ॰ नामवरसिंह, डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय, डॉ॰ शिवकुमार मिश्र, डॉ॰ विजेन्द्र नारायण सिंह, डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी आदि हिन्दी के विचारकों की रचनाओं को आधार

बनाया है।

इतिहासकारों में डॉ॰ डी॰ डी॰ कोसाम्बी, डॉ॰ इरफ़ान हबीब, डॉ॰ रामशरण शर्मा, डॉ॰ हीरेनमोहेन, डॉ॰ हरबंस मुखिया आदि विद्वानों के विचारों को अपने अध्ययन का आधार बनाया है। इस अध्याय में इन समस्त मार्क्सवादी विद्वानों के भक्ति-आंदोलन पर किये गये विश्लेषणात्मक विवरण का हमने पुनर्विवेचन प्रस्तुत किया है।

शोध-प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय है "भक्ति-आंदोलन के उद्भव और विकास के कारण।" इस अध्याय में हमने मार्क्सवादी इतिहासकार और आलोचकों द्वारा बताये गये उद्भव के कारणों का समग्र रूप से अनुशीलन करते हुए, तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में इसके विकास की गति की दिशा को प्रस्तुत किया है।

"भक्ति-आंदोलन का वैचारिक आधार" शीर्षक से प्रस्तुत इस शोध-प्रबन्ध के तीसरे अध्याय में भक्ति-आंदोलन के व्यापक जन-समर्थन पाने के मूल में स्थित विचारधारा को पकड़ने का प्रयास किया गया है। मार्क्सवादी आलोचकों ने इस विचारधारा के संबंध में, भिन्न भिन्न मत व्यक्त किये हैं। कुछ आलोचक, मुख्यत: मुक्तिबोध, भक्ति के मूल में ब्राह्मणवादी तत्वों का

समर्थन बताते हैं तो कुछ आलोचक जैसे, डॉ॰ रामविलास शर्मा तथा डॉ॰ विजेन्द्र नारायण सिंह, भक्ति को पूर्ण रूप से ब्राह्मण विरोधी तत्व बताते हैं। परन्तु कुछ आलोचक भक्तिकाव्य में अभिव्यक्त परस्पर विरोधी विचारों की भी व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार ये परस्पर विरोधी विचार कवि के अन्तर्विरोध हैं जो सामाजिक-द्वन्द्वों के प्रभाव के कारण उनमें पाये जाते हैं। डॉ॰ रमेशकुंतल मेघ तुलसी के अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करते हैं। डॉ॰ शिवकुमार मिश्र भक्ति-आंदोलन के लोकप्रिय रूप के वैभव को उसके लोकजीवन पक्ष के महत्व का उद्घाटन ही मानते हैं।

इस प्रकार मार्क्सवादी आलोचकों के विचारों में पाये जाने वाले वैविध्य का विवेचन करते हुए हम भक्ति-आंदोलन की क्रांतिकारी पक्ष का उद्घाटन करते हैं, जो निम्न वर्ग एवं वर्णों के उत्थान हेतु, भक्ति के माध्यम से प्रकट होता है। डॉ॰ विजेन्द्र नारायण सिंह के कहे अनुसार "भक्ति स्वयं ब्राह्मण विरोधी तत्व है", के समर्थन में इसकी विचारधारा के आधार को पाते हैं।

चौथा अध्याय है "ऐतिहासिक भौतिकवाद और भक्ति-आंदोलन।" इस अध्याय में ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धांतपरक विवेचन करते हुए, भक्ति-आंदोलन की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा एवं ऐतिहासिक विकास का विवेचन किया गया है। द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद के परिप्रेक्ष्य में भक्ति-आंदोलन की व्याख्या करते हुए भक्ति-आंदोलन के ऐतिहासिक महत्व को उसकी उपलब्धियों में देखा गया है। उदाहरण के लिए जाटों की तत्कालीन समाज में हीन स्थिति थी। एकेश्वरवादी आंदोलन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करने के कारण, जाटों की स्थिति समाज में बदल जाती है, वे बंजारों से खेतिहरों के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर समाज में अपना स्तर बढ़ाते हैं। उसी प्रकार सिक्खों में भी अनेक प्रकार की निम्न जातियों के लोग थे। भक्ति-आंदोलन से प्रेरणा ग्रहण कर वे समकालीन शोषण के विरुद्ध हथियार भी उठाते हैं, कालांतर में वे एक मज़बूत सैनिक शक्ति के रूप में गठित हो जाते हैं तथा उनके एक प्रधान धर्म (सिक्ख धर्म) की स्थापना हो जाती है।

"भक्ति-आंदोलन में वर्ग-संघर्ष" शीर्षक से लिखा गया पाँचवाँ अध्याय, मध्यकाल में निहित विभिन्न सामाजिक वर्गों एवं उनके द्वन्द्वों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। मार्क्सवादी इतिहासकारों, मुख्य रूप से डॉ॰ इरफ़ान हबीब मध्यकालीन समाज में वर्गों एवं उनके बीच संघर्षों को मानते हैं। उनका अध्ययन मध्यकालीन कृषि-व्यवस्था और उससे जुड़े हुए किसान-शोषण पर केन्द्रित होता है। हमने यहाँ इसका विवेचन किया है। साथ ही भक्ति-काव्य के आधार पर सामाजिक द्वन्द्वों को और उनमें संघर्ष के रूपों को

भी परखा है। भक्त-कवियों की सामाजिक अव्यवस्थाओं के प्रति असहमति और विरोध के रूपों को उभारने का प्रयत्न भी इस अध्याय में किया गया है।

"भक्ति-आंदोलन के सामाजिक सन्दर्भ" नामक छठे अध्याय में भक्त कवियों के भौतिक जीवन और उनके सामाजिक संबंधों का विवेचन विश्लेषण किया गया है। भक्त कवियों की सामाजिक चेतना का उद्घाटन उनके नारी संबंधी विचारों एवं उनके काव्य में चित्रित सामाजिक यथार्थताओं के आधार पर किया गया है। भक्ति-आंदोलन में विवादास्पद निर्गुण-सगुण समस्या का भी समाधान किया गया है तथा जन-भाषा के योगदान पर भी विचार किया गया है।

सातवाँ अध्याय "अवतारवाद" पर है, जो भक्ति-आंदोलन का मूल वक्तव्य था। मध्ययुगीन भक्ति-काव्य में अवतारवाद की भूमिका को हमने "भक्ति-आंदोलन में अवतारवाद और लीला" नामक शीर्षक के अंतर्गत दिखाया है।

सगुण भक्ति का मूल आधार ईश्वर का सगुण रूप है जो, पृथ्वी की रक्षा हेतु समय-समय पर विभिन्न रूप धारण कर प्रकट होता है। मध्ययुगीन भक्ति-काव्य में राम और कृष्ण -- दो ही अवतारों की प्रतिष्ठा की गयी है। दोनों अवतार-पुरुषों को तुलसीदास

और सूरदास , लोक रक्षक, तारण कर्ता के रूप में चित्रित करते हुए उन्हें मध्यकालीन चरित नायक बना देते हैं, जिसकी व्याख्या डॉ॰ प्रेमशंकर, डॉ॰ मेघ द्वारा स्पष्ट की गयी है। अवतार-पुरुषों का मध्ययुगीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में विवेचन प्रस्तुत करना इस अध्याय का मुख्य उद्देश्य है।

अंततः "उपसंहार" में हमने आलोचना के विविध आयामों की ओर दृष्टिपात करते हुए मार्क्सवादी आलोचना की सार्थकता को बताया है। भक्ति-आंदोलन के मार्क्सवादी मूल्यांकन के कारण भक्ति-काव्य का एक समग्र रूप उभरता है और इस बात की पुष्टि हमने "उपसंहार" में भली-भाँति की है।

x x x

आभार

सर्वप्रथम मैं अपने निर्देशक आदरणीय प्रो॰ विजेन्द्र नारायण सिंह के प्रति हृदयपूर्वक आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने समय-समय पर अपनी विद्वतापूर्ण निर्देशन से मेरे इस शोध-कार्य को सफलतापूर्वक संपन्न होने में सहयोग दिया।

मैं अपने मित्रों एवं शुभचिंतकों के प्रति भी अपना आभार व्यक्त कर रही हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में मेरी सहायता की।

मैं अपनी प्रिय सहेली श्रीमति रमा सुंदरी के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिसने मेरे "शोध-प्रबन्ध" के टंकण की जिम्मेदारी ली है।

मेरे पूज्य पिताजी मोहम्मद आयूबखान साहब की प्रेरणा और आशीर्वादों के बिना यह कार्य असंभव था, उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करना मेरा कर्तव्य है।

साजिदा खानम
25-3-96
साजिदा खानम्

प्रथम अध्याय

भक्ति-आन्दोलन और हिन्दी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक

प्रथम अध्याय

भक्ति-आंदोलन और हिन्दी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक

भक्ति-आंदोलन

(क) हिन्दी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक

1. गजानन माधव मुक्तिबोध
2. रमेशकुंतल मेघ
3. रामविलास शर्मा
4. राँगेयराघव
5. नामवरसिंह
6. शिवकुमार मिश्र
7. मैनेजर पाण्डेय
8. अन्य आलोचक

(ख) प्रमुख मार्क्सवादी इतिहासकार

1. दामोदर धर्मदास कोसाम्बी
2. इरफ़ान हबीब
3. रशीद
4. रामशरण शर्मा
5. हरबंस मुखिया
6. सतीशचन्द्र
7. हीरेनगोहेन
8. एम.जी.एस. नारायणन और वेलुतट केशवन

निष्कर्ष

भक्ति-आंदोलन और हिन्दी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक

भक्ति-आंदोलन :

विद्वानों ने भक्ति-आंदोलन को मध्यकाल में उत्पन्न एक व्यापक "जन-आंदोलन" के रूप में चित्रित किया है। मध्यकालीन भारत की विभिन्न परिस्थितियों एवं उस युग में विकास पानेवाले भक्ति-आंदोलन के गहरे अध्ययन-अनुशीलन के पश्चात् हम भी देखते हैं कि यह आंदोलन महज़ एक धार्मिक आंदोलन न होकर एक जन-आंदोलन भी था, जो समकालीन समाज में स्थित संकीर्ण स्थितियों, जैसे वर्णाश्रम धर्म, जाति-व्यवस्था एवं स्वार्थी शोषणयुक्त सामंती व्यवस्था आदि के विरुद्ध अत्यंत साहस के साथ आवाज़ उठानेवाला भारत का सर्वप्रथम महत्वपूर्ण आन्दोलन था।

इस मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन को हिन्दी के मार्क्सवादी लेखकों, विचारकों और भारत के इतिहासकारों ने किस रूप में देखा है, इसका विस्तार से विवेचन किया जायेगा।

मार्क्सवादी दर्शन यह बताता है कि प्रत्येक चिंतन या विचारधारा के मूल में अर्थ का महत्त्व रहता है, जो उत्पादन साधनों एवं संबंधों पर निर्भर है। अतः मार्क्सवादी दृष्टि से जब भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन किया जाता है तब हम इसी मूल सिद्धांत को पकड़ने में समर्थ होंगे।

मध्यकालीन समाज व्यवस्था को डॉ॰ रामविलास शर्मा जैसे मार्क्सवादी आलोचकों ने ह्रासोन्मुखी सामंती व्यवस्था की संज्ञा दी थी, जो घोर शोषणयुक्त व्यवस्था थी। इस शोषणपूर्ण व्यवस्था के शिकार शोषित निम्न

जातियाँ और गरीब किसान थे, जिन्होंने अपने सामाजिक तथा आर्थिक स्थितियों में सुधार के लिए जो संघर्ष किया, उसका माध्यम भक्ति था। इस अनोखे भक्ति-माध्यम की वजह से उन्हें अनेक तात्कालिक प्रयोजन सिद्ध हुए। इनमें सर्वप्रथम एवं महत्वपूर्ण प्रयोजन यह है कि निरीह, निराश, दिशाहीन, गरीब, शोषित, वंचित निम्न जातियों को एक ऐसा आलंबन मिला जो सर्व शक्तिमान है, सबका पालनहार है और अत्यंत दयालु एवं अपार प्रेमपात्र है। ऐसे महान ईश्वर की कल्पना ने अल्पकाल के लिए ही सही, परन्तु पीड़ित चित्त को शाँति देने में अत्यंत समर्थ था।

दूसरे, "भक्ति" में एक और अद्भुत गुण का प्रचार यह किया गया है कि "भक्ति" जात-पाँत, ऊँच-नीच, अमीर-गरीब आदि किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं रखती, उसमें सभी लोग समान हैं।

बस, यही एक ऐसा हथियार था, जो शोषित, वंचित जनता को मानसिक हथियार के रूप में मिल गया और उन्हें बड़े पैमाने पर इस आंदोलन की ओर आकर्षित करने में कामयाब रहा। इसी कारण, शोषित एवं पीड़ित जनता में मानसिक उत्साह और शक्ति जाग उठी; क्यों कि जब सर्वशक्तिमान ईश्वर स्वयं किसी भी प्रकार के भेद-भाव नहीं रखता है, तो मात्र इन मनुष्यों से क्या डरना जो उसी के बनाये हुए हैं! इस तरह का सम्बल एकमात्र भक्ति ही दे सकती थी, जो समयोचित भी थी।

"वर्ग-संघर्ष" मार्क्सवाद का जो मूल दार्शनिक सत्य है, उसे हम मध्ययुगीन किसान वर्ग-भूस्वामी वर्ग एवं निम्न जाति -उच्च जाति के बीच देखते हैं। इस संघर्ष के मूल कारण क्या थे, यह किस रूप में प्रारंभ हुआ था तथा इससे किन किन प्रयोजनों की पूर्ति हुई है -- इन विषयों का विवेचन "भक्ति-आंदोलन में वर्ग-संघर्ष" नामक अध्याय में किया जाएगा।

भक्त-कवि मात्र ईश्वरोपासक नहीं रहे, उनकी समकालीन सामाजिक गतिविधियों में रुचि रही और यह बात उनकी रचनाओं में स्पष्ट हो ही जाती है, फिर भी रमेशकुंतल मेघ जैसे आलोचक तुलसीदास को भक्त-कवि के धरातल से उठाकर उन्हें "सामाजिक इतिहास लेखन के कवि" के रूप में और उनकी कवितावली को उस लेखन के "दस्तावेज" के रूप में मान्यता देते हैं। शिवकुमार मिश्र उन्हें "लोकधर्मी चेतना" रखनेवाले कवि बताते हैं। मैनेजर पाण्डेय के अनुसार सूरदास और जायसी समाज में मानवीयता एवं प्रेम के महत्व को ऊँचा उठानेवाले हैं। डॉ॰राम-विलास शर्मा भक्त कवियों को अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध लड़नेवाले "वीर कवि" मानते हैं।

इस प्रकार सभी आलोचक भक्त-कवियों को जीवन के प्रति गहरी आस्था रखनेवाले बताते हैं, उनके अनुसार वे विरागी नहीं थे। इसीलिए कबीर, तुलसी जैसे कवि गृहस्थ भी थे और संत

भी थे। उन्होंने जनता को संसार त्यागने का नहीं बल्कि लोभ, मोह, काम-क्रोध इत्यादि बुरे गुणों को त्यागने का उपदेश दिया। इन महान संतों ने लोगों को जो उपदेश दिया, वही अपने के लिए भी लागू करते रहे थे। उनके "कहने" और "करने" में कोई अंतर नहीं था। जो प्रवचन समाज के सामने करते थे, वही अपने दैनिक आचरण में भी अमल में लाते थे। जुलाहे व्यवसाय से जीवनयापन करनेवाले संत कबीर ने अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति से अधिक संपत्ति पाने की इच्छा कभी नहीं की थी। इसीलिए उन्होंने कहा --

"साई इतना दीजिए, जामे कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु न भूखा जाय।।

इन भक्त-कवियों द्वारा व्यक्त इस विचार धारा के मूल में जो सामाजिक आधार निहित है, उसके अध्ययन के लिए तत्कालीन (मध्यकालीन) सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का ज्ञान आवश्यक है, जो हमें मार्क्सवादी इतिहासकारों के विचारों द्वारा प्राप्त है।

इस प्रथम अध्याय में हम भक्ति-आंदोलन पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण से टिप्पणी करनेवाले कुछ प्रमुख आलोचकों एवं इतिहासकारों का परिचय प्राप्त करके इस दिशा में उनकी उपलब्धियों एवं सीमाओं का विवेचन करेंगे।

हिन्दी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक :-

मार्क्सवादी विचारक भक्ति-आंदोलन की भौतिकवादी व्याख्या करते हैं, जो मध्ययुगीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों पर निर्भर है।

इस दिशा में काम करनेवाले हिन्दी के आलोचकों में गजानन माधव मुक्तिबोध, रमेशकुंतल मेघ, डॉ॰ रामविलास शर्मा, डॉ॰ रांगेय राघव, नामवरसिंह, शिवकुमार मिश्र और मैनेजर पाण्डेय आदि को प्रमुख रूप में गिना जा सकता है। इनकी आलोचना के अलावा पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय पर छपे प्रमुख लेखों तथा निबंधों का भी परिचय इस अध्याय में दिया जाएगा।

भक्ति-आंदोलन का मार्क्सवादी दृष्टि से विवेचन करनेवालों में हिन्दी के सर्वप्रथम आलोचक श्री गजानन माधव मुक्तिबोध हैं।

श्री गजानन माधव मुक्तिबोध :-

"मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन का एक पहलू" मुक्तिबोध का महत्वपूर्ण निबंध है जो भक्ति-आंदोलन को मार्क्सवादी दृष्टि से प्रस्तुत करता है। लेखक के अनुसार भक्ति-आंदोलन जनता के कष्टों एवं दुखों से उत्पन्न हुआ था। उन्हीं के शब्दों में --

"भक्ति-आंदोलन का आविर्भाव एक ऐतिहासिक सामाजिक शक्ति के रूप में जनता के दुखों और कष्टों से हुआ।"[1]

लेखक के कहे अनुसार, जनता के दुःखों से आंदोलन का उत्पन्न होना एक आधारभूत कारण था हो, पर इसके साथ और भी अनेक कारण थे जिन्होंने इस आंदोलन के उद्‌भव में अपनी भूमिका अदा करते हैं, जिनकी हम अपने द्वितीय अध्याय "भक्ति-आंदोलन और विकास के कारण" के अंतर्गत विशद चर्चा करेंगे।

लेखक ने अपनी महत्वपूर्ण आलोचना को "भक्ति-आंदोलन के "एक पहलू" तक ही सीमित किया है, जो इस निबंध के शीर्षक से स्पष्ट है। एक निबंध की हैसियत से यह विचार कम मूल्यवान नहीं है, और तो और, इस निंबंध को मार्क्सवादी दृष्टि से भक्ति-आंदोलन को परखने का हिन्दी का प्रथम प्रयत्न का दर्जा भी प्राप्त है।

हमारा विषय समूचे भक्ति-आंदोलन एवं उससे जुड़े हुए समस्त भक्त कवियों से संबंध रखता है; इसके लिए हमारा मुक्ति बोध के साथ साथ अनेक अन्य मार्क्सवादी आलोचक भी दिशा-निर्देशन करते हैं। आगे के अध्यायों में लेखक के विचारों का यथास्थान

---

1. गजानन माधव मुक्तिबोध : "नई कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध" पृ: 92

अनुशीलन किया जायेगा।

डॉ॰ रमेशकुंतल मेघ :-

"तुलसी : आधुनिक वातायन से" लेखक का शोध-प्रबंध है। ज़ाहिर है कि शोध-प्रबंध में लेखक के विचार अत्यंत स्पष्ट रूप में मिलेंगे। सात गोष्ठियों में विभक्त इस ग्रंथ में लेखक ने तुलसी की कृतियों का अनुशीलन उनके व्यक्तित्व के आलोक में किया था। विशेषकर तुलसी की रामकथा में राम के अंतर्विरोधों को तुलसी के ही अंतर्विरोध साबित करते हैं।

तुलसीदास को मेघ आधुनिक वातायन से देखते हैं, इस तरह देखने में वे तुलसी की प्रासंगिकता को हमारे सामने रखते हैं। मेघ तुलसी-साहित्य को एक झरोखा मानते हैं और झरोखा मानने में उनका विचार है कि मात्र तुलसी-साहित्य के अध्ययन से मध्यकाल के सांस्कृतिक पहलू का लगभग सुपूर्ण दर्शन हो जाता है। मेघ तुलसी दास के काव्य को मात्र काव्य की दृष्टि से नहीं देखते हैं बल्कि उसे "कलात्मक इतिहास लेखन" मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "इतिहास या तो महापुरुषों और महान् घटनाओं को केन्द्र मान कर लिखा जाता रहा है अथवा साधारण जनता और उनकी दैनंदिन सामाजिक दशाओं को ढूँढ़ कर उनकी व्याख्या करके लिखा जा सकता है। तुलसीदास के कलात्मक इतिहास लेखन (आर्टिस्टिक

हिस्टीरियोग्राफी) में दूसरी जीवन-दृष्टि शीर्षस्थ है। यदि उनमें नैतिक यथार्थता और लोकमंगल के आदर्श भी हैं। वे मध्यकालीन अंतर्विरोधों से बरी नहीं हैं। इस तरह तुलसी विशाल मध्यकालीन संस्कृति के एक दर्पण है, एक दीपक है, और सबसे अधिक एक झरोखे हैं।"[1]

लेखक के अनुसार, समाज के जिस पहलू को पेश करने में इतिहास असफल सिद्ध होता है वहाँ साहित्य सफल साबित होता है और वह अपनी सशक्त साहित्यिक विधाओं से इस कमी को पूरा करता है। वे तुलसी-साहित्य को इसका ज्वलंत उदाहरण मानते हैं। इतना ही नहीं, मेघ संतों, भक्तों एवं सूफी कवियों को वास्तविक इतिहासकार मानते हैं। उनके अनुसार वे महापुरुष अपने स्वयं के सुखद एवं दुखद अनुभूतियों, आकांक्षाओं और आदर्शों को समाज के सामने रखते हैं। परंतु उनकी अभिव्यक्ति का माध्यम काव्य है और साहित्य के इस माध्यम के द्वारा वे जन-इतिहास को ही प्रस्तुत करते हैं।

तुलसीदास पर मेघ का ही एक लेख है जिसका शीर्षक, "तुलसी की 'कवितावली'; सामाजिक इतिहास लेखन का एक प्रामाणिक काव्य-

---

1. डॉ. रमेशकुंतल मेघ : "तुलसी : आधुनिक वातायन से", भूमिका से उद्धृत, पृ. 11

दस्तावेज़"। इसके शीर्षक से ही पता चल जाता है कि मेघ के मन में तुलसी -काव्य की कैसी प्रतिष्ठा स्थापित है। वे तुलसीदास के काव्य को काव्य-रूप में स्थित एक दस्तावेज़ मानते हैं जिसकी प्रामाणिकता में कोई शक की गुंजाइश नहीं है।

लेखक अपने शोध प्रबंध में मध्यकाल को "मुस्लिम मध्यकाल" नाम देते हैं और तुलसी को इस मुस्लिम मध्यकाल के प्रारम्भिक चरण में उत्पन्न कवि मानते हैं, साथ ही तुलसी को तत्कालीन समाज के अंतर्विरोधों के साथ प्रकट करते हैं। लेखक इस मुस्लिम मध्यकाल की तुलना हिन्दू सामन्त युग से करते हुए, मध्यकाल की विशेषताओं को इस प्रकार बताते हैं, जो भक्ति-आंदोलन से संबंध रखते हैं। इस काल में लोक भाषाओं का विकास, व्यापारियों और कारीगरों की अभ्युदय, दक्षिण से उभर कर उत्तर में फैलते हुए भक्ति-आंदोलन का जन-जीवन में प्रवेश, मुसलमानों और इस्लाम धर्म की सशक्त सांस्कृतिक चुनौती आदि रोचक अंश हैं। प्रमुखतः धर्म मुस्लिम युग में जन-जीवन के आंदोलन के रूप में प्रवाहित हुआ था जबकि हिन्दू सामंत युग में वह राजशक्ति से संलग्न था। मुस्लिम मध्यकाल में सभ्यता और संस्कृति दरबारों से हटकर मंदिरों तथा लोकचित्त में समा गयी थी। अतः परंपरा का प्रसार दरबारों के द्वारा न होकर भक्ति-आंदोलन के केन्द्र बिन्दुओं जैसे, आचार्य, मंदिर

तीर्थ इत्यादि के द्वारा हुआ।

अर्थात् इनके अनुसार, हिन्दू सामंत युग पिछड़ा हुआ था, उसमें लोक भाषाओं का अधिक विकास नहीं हुआ था और व्यापार में भी विशेष वृद्धि नहीं हुई थी।

निष्कर्ष यही है कि मेघ ने मध्यकाल को सभ्यता का विकसित युग माना है और इस युग के भक्ति-आंदोलन को "जन-आंदोलन" की संज्ञा दी है।

मेघ को भी एक सीमा है, वे अपने अध्ययन के प्रस्तुतीकरण की सीमा को स्वयं इस प्रकार बताते हैं, "हमने केवल तुलसी को ही आधार बनाया है। इसलिए हमारा "मध्यकाल-अध्ययन" मध्यकाल के एक खण्ड की एक {हिन्दू} संस्कृति के एक साहित्य-रूप {काव्य} की एक धारा के एक कवि पर केन्द्रीभूत हो जाता है। इसलिए यह "मध्यकाल अध्ययनशास्त्र" की प्रारम्भिक भूमिका ही कही जायेगी; यद्यपि हमने व्यापकता और गहराई के आयामों को उभारने की हर मुमकिन कोशिश की है।"[1]

इस प्रकार मेघ की रचना एक खण्ड-विशेष और एक कवि-विशेष के लिए विस्तृत होते हुए भी, संपूर्ण भक्ति-आंदोलन का गंभीर अध्ययन

---

1. डॉ० रमेशकुंतल मेघ : "तुलसी : आधुनिक वातायन से;" भूमिका से, पृष्ठ 10

नहीं है। परन्तु इसके अध्ययन से हमें इस कार्य में आगे बढ़ने के लिए एक प्रेरणा अवश्य मिल जाती है।

डॉ· रामविलास शर्मा :-

हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचकों में डॉ·रामविलास शर्मा का स्थान अत्यंत उल्लेखनीय है। भक्ति-आंदोलन को इस दृष्टि से परखने के संदर्भ में उनकी दो किताबें, "परंपरा का मूल्यांकन" एवं "हिन्दी जाति का साहित्य" महत्वपूर्ण हैं। "परंपरा का मूल्यांकन" में उनके चार निबंध भक्ति-आंदोलन से संबंधित हैं, जिनमें तीन निबंध तुलसी दास पर हैं, एक, समूचे संत-साहित्य पर।

लेखक अपने द्वारा विरचित "संत साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ" नामक निबंध में संत और भक्त के बीच कोई भेद नहीं मानते हैं। भक्तिकाल के सभी कवियों को वे "संत" की उपाधि देते हैं। इसलिए उनके अनुसार, "संतों में स्त्री और पुरुष, संन्यास और गृहस्थ, हिन्दू और मुसलमान, सगुणवादी और निर्गुणवादी दोनों हैं।[1]"

लेखक संत काव्यधारा को एक विराट सांस्कृतिक आंदोलन के रूप में चित्रित करते हुए इस साहित्य को भारतीय जीवन की अपनी परिस्थितियों से उत्पन्न बताते हैं। इससे हमें भक्ति-आंदोलन के

1· डॉ· रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन," पृ· 45

अध्ययन में एक दिशा मिलती है।

इन निबंधों में लेखक ने तुलसीदास का अधिक विस्तार से विवेचन किया है; तुलसीदास से संबंधित उनके तीन निबंध यही बात स्पष्ट करते हैं।

"तुलसी की भक्ति" शीर्षक से प्रस्तुत निबंध में लेखक तुलसी-दर्शन को "लोकोन्मुख-दर्शन" कहते हैं। उनके अनुसार तुलसी-दर्शन की संक्षिप्त व्याख्या हम इस प्रकार कर सकते हैं कि तुलसी-दर्शन संसार को, ब्रह्म को, जीव को सत्य सिद्ध करता है; क्योंकि वे ब्रह्म को सगुण और निर्गुण एवं प्रत्यक्षऔर परोक्ष मानते हैं। जीव को भी वे ब्रह्मका अंश मानने के कारण इनकी दृष्टि में जीव भी नित्य है; इसलिए इनका दर्शन लोकोन्मुख दर्शन है। तुलसी की लोकोन्मुखता का एक और ज्वलंत उदाहरण है - जनता के प्रति उनका उत्तरदायित्व। उन्होंने जनता को कभी भी काल्पनिक स्वर्ग दिखाने का प्रयत्न नहीं किया, बल्कि जनता को दुखों के कारण समझा कर दुख सागर से उन्हें पार करने के लिए "राम नाम स्मरण" रूपी बेड़ा दर्शाया। जनता के दुखों के मुख्य कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि आसुरी गुणों से भरी उनकी आंतरिक प्रवृत्ति है और साथ ही साथ एक और भौतिक अंश दरिद्रता भी प्रमुख कारण के रूप में माना जा सकता है जो उनको सब तरह की भौतिक आवश्यताओं से वंचित करता है। तुलसी की उक्ति, "नहिं दरिद्रसम दुख जग माहिं।"

को लेखक यहाँ प्रस्तुत करते हैं। इसी दरिद्रता के प्रत्यक्ष दुःख को झेलते हुए भी संसार को "माया", "मिथ्या" कह कर टाला जाना कहाँ तक संभव है और ऐसा करना कौन सी संगत की बात है? तुलसी के "लोकोन्मुख दर्शन" का एक और सशक्त उदाहरण हमें उनके अपने और दूसरों के दुखों का यथार्थ वर्णन में मिलता है। तुलसी के अनुसार दुख को प्रत्यक्ष झेलते हुए भी संसार को असत्य कहना एकदम असंगत प्रसंग है। क्योंकि संसार को असत्य कह देने मात्र से दुःख असत्य नहीं हो जाएँगे।

यह है तुलसी-दर्शन, जो संसार की सत्यता को पूर्ण रूप से मानता है। ऐसे भक्त-कवियों को कौन कह सकता है कि वे लोक-विमुख हैं।

"तुलसी-साहित्य के सामन्त विरोधी मूल्य" नामक निबंध में लेखक तुलसी-साहित्य में उनके सामंत-विरोधी मूल्यों को दर्शाने के प्रयत्न में सर्वप्रथम उन लोगों के विचारों का विरोध करते हैं, जिन्होंने तुलसी को जर्जर होती हुई सामंती-संस्कृति का पोषक माना था।

"भक्ति-आंदोलन और तुलसीदास" निबंध में लेखक तुलसीदास को भारत के सर्वश्रेष्ठ भक्त कवि एवं भक्ति-आंदोलन के निर्माता घोषित करते हैं। लेखक भक्ति-आंदोलन के महत्व को इस प्रकार

बताते हैं, "भक्ति-आंदोलन अखिल भारतीय है। देश और काल की दृष्टि से ऐसा व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन संसार में दूसरा नहीं है।"[1]

यहाँ लेखक इस आंदोलन के देशव्यापी होने की बात को अधिक महत्व देते हैं, इसी कारण इसकी विस्तृति बढ़ गयी थी। कश्मीर से लेकर तमिलनाडु तक के बीच में व्याप्त विभिन्न प्रांतों में भक्ति-आंदोलन का फैलाव रहा। और आगे लेखक इसे भारत में जातीय एकता के निर्माण की नींव डालनेवाला आंदोलन बताते हैं। और इस काम में जन-भाषाओं की भूमिका को पूर्ण रूप से पहचानते हैं।

"हिन्दी जाति का साहित्य" लेखक का एक और विचारणीय ग्रंथ है। परन्तु उन्होंने हिन्दी "भाषा"-साहित्य को हिन्दी का "जाति"-साहित्य घोषित कर सबसे पहले तो अहिन्दी भाषी हिन्दी-प्रेमियों एवं साहित्यकारों के मन को ठेस पहुँचाया है। क्या सचमुच हिन्दी साहित्य हिन्दी भाषी प्रान्तों का ही धरोहर है ? उसमें अहिन्दी भाषा भाषी साहित्यकारों का योगदान कोई महत्व नहीं रखता ? फिर तो हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने में क्या अर्थ रह जायेगा ? ठीक है, रामविलास शर्मा जी की इस दृष्टिकोण से

---

1. रामविलास शर्मा, "परंपरा का मूल्यांकन," पृ. 70

आलोचना करना यहाँ हमारा उद्देश्य नहीं है। हमें तो उनके भक्ति-आंदोलन पर दिये गये मूल्यवान विचारों से ताल्लुक रखना है।

इसमें लेखक की विशेषता यह है कि उन्होंने भाषा-भेद को अधिक मान्यता दी है, उन्होंने धार्मिक भेद को नहीं माना। इसलिए उनको हिन्दी जाति में हिन्दू -मुसलमान, दो भिन्न जातियाँ नहीं हैं, बल्कि वे एक ही जाति के हैं; वह है -- "हिन्दी-जाति।" तुर्कों द्वारा भारत में अपने-अपने प्रान्तों में वहाँ की जातीयता को अपनाना ही इसका प्रमाण है।

निस्संदेह, रामविलास शर्मा भक्ति-आंदोलन की व्याख्या निहायत अधिक गहराई के साथ करते हैं। परन्तु इन्होंने भी अपना अधिक ध्यान तुलसीदास पर दिया है, जबकि भक्ति-आंदोलन में अनेक अन्य निर्गुण सगुण धाराओं के महान भक्त-कवि अपना महत्वपूर्ण योगदान दे चुके हैं जो भक्ति-आंदोलन को पूर्णता की ओर ले जाता है।

डॉ॰ रांगेयराघव :-

डॉ॰ रांगेयराघव के दो निबंध "मध्यकालीन हिन्दी साहित्य और भारतीय भक्ति-आंदोलन" और "तुलसीदास : एक दृष्टिकोण" उल्लेखनीय हैं।

अपने प्रथम निबंध में लेखक हिन्दी-भक्ति-आंदोलन की अवधि

को पाँच शताब्दियों के बीच का समय मानते हैं। उनके अनुसार इस आंदोलन के उद्भव और विकास को इस प्रकार हम देख सकते हैं; भक्ति के लिए सबसे पहले परमात्मा की सत्ता में विश्वास रखना होगा। फिर, अपने उपास्य भगवान के साथ श्रद्धा पूर्वक और विश्वासभरा तादात्म्य स्थापित करने पर भक्ति की सिद्धि होगी। वैदिक युग से भक्ति या उपासना के विकास में बहुत उतार-चढ़ाव आये थे। भक्ति का विकास वैदिकी सभ्यता के लोगों से आरंभ हुआ। वे प्राकृतिक चिह्नों से ही भगवान की उपासना किया करते थे। ऐसी स्थिति से होकर महा भारत काल तक भगवान ब्रह्मा के रूप में उपास्य हो गया।

इस प्रकार महाकाव्यों, पुराणों से भक्ति सामाजिक धरातल पर आती है। परन्तु इससे पहले बौद्ध-आंदोलन आत्मा के अस्तित्व तक को नहीं मानता था, फिर भी उसे जनता का समर्थन मिला था, क्योंकि यह ब्राह्मण आधिपत्य के विरोध में था। इसके बाद भारत मे पुन: भक्ति को ओर अपना रास्ता बनाया जो विष्णु और शिव की उपासना के रूप में था। आगे चलकर विष्णु के अवतारों के रूप में राम और कृष्ण को माना गया, जिस भावना ने भक्ति-आंदोलन को तेज़ गति से विकास प्राप्त करा दिया। इस प्रकार लेखक भक्ति के सामाजिक रूप की व्याख्या करते हैं।

लेखक अपने दूसरे निबंध "तुलसीदास : एक दृष्टिकोण" में तुलसी

को इस प्रकार पेश करते हैं, "तुलसी ने राम के वीर-रूप में समाज को उस उच्छृंखलता का नाश किया जो ब्राह्मणवाद विरुद्ध थी। उसका नाश ही वह कलि का नाश कहते थे। अपनी बात को पहुँचाने के लिए उन्होंने कई भाषाओं का प्रयोग किया। ब्राह्मण-स्वार्थ को जिस नये रूप की आवश्यकता थी, वह तुलसी ने दिया और निम्न वर्गों के विद्रोह को दबा कर उच्च वर्गों का सरदर्द ख़त्म कर दिया। छै सौ सालों से जो ब्राह्मण धर्मशास्त्रों की टीका और टीका व्याख्या करके अपने को इस्लाम और उसके प्रभाव से बचाने का प्रयत्न कर रहे थे, तुलसी ने उन्हें आज़ाद कर दिया। इतना आज़ाद कर दिया कि पुराणकार उच्च वर्ग का काम पूरा हो गया, दरबारी उच्च वर्ग विलास में लग गया।"[1]

सारांश यह है कि तुलसीदास ने ब्राह्मण व्यवस्था एवं वर्णाश्रम धर्म की पुन:स्थापना की। सन्तों के ब्राह्मणवाद-विरोधी आंदोलन को दबा दिया, ह्रासोन्मुखी सामन्ती व्यवस्था को पुन: प्रतिष्ठित किया। वेद सम्मत भक्ति को अपनाया और यहाँ तक कि उन्होंने हिन्दी भाषा का प्रयोग भी ब्राह्मणवाद के पुनर्संगठन के लिए ही किया।

इस प्रकार डॉ॰ राँगेयराघव का एकमात्र लक्ष्य तुलसी के एकपक्षीय

---

1. डॉ॰ राँगेयराघव : "राँगेयराघव ग्रंथावली" - 10, पृ॰ 219

एवं पक्षपात दृष्टिकोणों को उजागर करना ही रहा; और उन दृष्टि-कोणों को अपनाने की वजह से जन साधारण का जो अहित हुआ है, उसके जवाबदेह के रूप में तुलसी को जनता के सामने खड़ा करना ही रहा। तुलसी के आचरण में हुई छोटी सी छोटी भूल को भी रंग जमा कर नुक्ताचीनी करना ही रहा। किन्तु तुलसी के मन में ताड़ित, पीड़ित, दलित और दमित जनता के प्रति कितनी असीम वेदना थी, कितनी करुणा थी -- इसकी ओर लेखक ने अपनी दृष्टि प्रसारित करने का कष्ट नहीं किया।

लेखक ने तुलसी पर चाहे कितने ही आलोचना संबंधी अस्त्र-शस्त्र का संधान क्यों न किया हो, पर इतना तो इन्होंने अवश्य माना है कि भक्ति-आंदोलन निम्नवर्णों और वर्गों के उत्थान का आंदोलन है। लेखक ब्राह्मणों के अपने पूर्व अधिकारों को त्याग कर, जन-आंदोलन में शामिल होने को उनकी अवसरवादिता ही कहते हैं, जो सही है।

डॉ॰ नामवरसिंह :-

डॉ॰ नामवरसिंह भक्ति-आन्दोलन संबंधी अपने मूल्यवान विचारों को "दूसरी परंपरा की खोज" में व्यक्त करते हैं। इस किताब की खासियत यह है कि लेखक इसमें डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी के विचारों का विश्लेषण करते हैं। इस कार्य में जहाँ-तहाँ लेखक के विचार भी अभिव्यक्ति पा जाते हैं।

इस सिलसिले में इस किताब का पाँचवाँ अध्याय "भारतीय साहित्य की प्राणधारा और लोकधर्म" विशेष महत्व रखता है। लेखक यहाँ पहले हमें यह बताते हैं कि "भारतीय साहित्य की प्राणधारा" नाम प्रसाद जी को "हिन्दी साहित्य की भूमिका" प्रकाशित होने के पूर्व का नाम रहा।

लेखक यहाँ द्विवेदी जी के विचारों के अनुशीलन से ऐसा निष्कर्ष निकालते हैं जो मध्यकालीन समाज में स्थित अन्तर्विरोधों को स्पष्ट करता है और जिससे भक्ति-आंदोलन के विकास को समझना आसान हो जाता है। लेखक का विचार है कि "मध्ययुग के भारतीय इतिहास का मुख्य अन्तर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वन्द्व है, न कि इस्लाम और हिन्दू धर्म का संघर्ष।"[1]

सारांश यह है कि मध्ययुग में संघर्ष धर्मभेद के कारण अथवा संस्कृति भेद के कारण नहीं था बल्कि वह शास्त्र और लोक के बीच का द्वन्द्व था। शास्त्र अपने वेद सम्मत आचार प्रधान भक्ति की स्थापना पर ज़ोर देता था, वर्णाश्रम धर्म की परंपरा को क़ायम रखना चाहता था और समाज में ब्राह्मण आधिपत्य को पुन: स्थापित करना चाहता था जबकि इसके विपरीत "लोक," परंपरागत रूढ़ियों को तोड़ना चाहता था, समाज में वर्णभेद को मिटाना चाहता था और उसका

---

1. डॉ. नामवरसिंह : "दूसरी परंपरा की खोज", पृ. 78

झुकाव माधुर्य भक्ति की ओर था।

इस प्रकार शास्त्र और लोक के बीच के संघर्ष को हम मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन में देखते हैं।

डॉ॰ शिवकुमार मिश्र :-

लेखक द्वारा विरचित "भक्ति काव्य और लोक जीवन" शीर्षक से लिखी गयी यह रचना भक्ति काव्य को लोक जीवन के दृष्टिकोण से प्रस्तुत करती है। आठ निबंधों से संकलित इस ग्रंथ में उन्होंने कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, नानकदेव एवं गुरु गोविंद सिंह आदि प्रमुख भक्त कवियों को स्थान देते हुए उनकी लोकधर्मी चेतना को ही उभारने की कोशिश की है।

लोक जीवन से लेखक का तात्पर्य यह है कि "जन साधारण का जीवन", जिसमें जनता की आशाएँ-आकांक्षाएँ हों, स्वप्न एवं सुख दु:ख हों। इस तरह जन-जीवन को लेखक मध्यकालीन भक्त कवियों की रचनाओं में भरपूर पाते हैं और हमें मध्यकालीन समाज को एक नये दृष्टिकोण से परखने का अवसर देते हैं।

लेखक भक्ति-आंदोलन को मध्यकालीन सामाजिक परिस्थितियों के केन्द्र में देखते हैं, "मध्ययुग, जैसा कि सामाजिक इतिहास के बीच से वह उभरता है और भारत में ही नहीं, यूरोप तथा दुनिया के

अन्य देशों में अपनी पहचान कराता है; अपने प्रत्येक क्रिया कलाप के मूल में धर्म की केन्द्रीय स्थिति को सूचित करता है। अतएव मध्य युग में उभरकर सामने आनेवाला कोई भी जनतांत्रिक अभियान धर्म की चौहद्दियों के भीतर ही अपनी अभिव्यक्ति करता है।"[1]

लेखक के अनुसार, भक्ति-आंदोलन एक जनतांत्रिक अभियान ही था, मगर अभिव्यक्ति का माध्यम धर्म था। मध्यकाल सिर्फ भारत में ही नहीं बल्कि यूरोप एवं अन्य देशों में भी धार्मिक क्रिया-कलापों का युग रहा। इसलिए मध्ययुग में उत्पन्न प्रत्येक नयी विचारधारा अथवा आंदोलन धर्म के माध्यम से ही पहचाना जाने लगा।

डॉ· मैनेजर पाण्डेय :-

हिन्दी के एक और प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक डॉ· मैनेजर पाण्डेय की पुस्तक "भक्ति-आंदोलन और सूरदास का काव्य" में सात अध्याय हैं। प्रथम अध्याय "भक्ति काव्य और हिन्दी आलोचना" में उन्होंने भक्ति-आंदोलन पर किये गये विभिन्न व्याख्याओं को रेखांकित किया है।

भक्तिकाव्य के व्याख्याकारों के सामने आनेवाली समस्याओं का लेखक यहाँ पर विवेचन करते हैं। उन्होंने सर्वप्रथम यह समस्या बतायी है कि भक्त कवियों के अलग अलग परिवेश थे और उनकी कविता के

1· डॉ· शिवकुमार मिश्र : "भक्ति काव्य और लोक जीवन," पृष्ट 2

स्वर भी भिन्न थे। इसलिए किसी एक भक्त कवि की रचना के विवेचन को दृष्टि में रखकर दूसरे कवि की रचना का अनुशीलन नहीं किया जा सकता। मीरा का काव्य ही देखिए, उनका सामाजिक धरातल, कबीर, तुलसी, सूर, जायसी आदि भक्त कवियों से भिन्न है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हजारी प्रसाद द्विवेदी की आलोचनाओं को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हुए पाण्डेय जी बताते हैं कि किस प्रकार आलोचकों के नज़रिये के अनुसार, मूल्यांकन के रूप भी बदलते जाते हैं।

लेखक के इस ग्रंथ का सातवाँ अध्याय भी महत्वपूर्ण है, जो "सूर का काव्य और किसान-जीवन" शीर्षक से है। इस अध्याय में लेखक सूर के सामाजिक जीवन की खोज करते हैं और सूर के लोक जीवन एवं किसान-जीवन को प्रस्तुत करते हैं।

बीच के पाँच अध्यायों में सूर-साहित्य के अन्य पहलुओं जैसे उनका भक्त-रूप, काव्यानुभूति, लीला की अवधारणा, एवं प्रेम तत्व आदि का अध्ययन किया गया है।

भक्ति में प्रेम की महत्ता को पहचान कर लेखक प्रेम को भक्ति काव्य का मूल भाव और संपूर्ण भक्तिकाव्य का केन्द्रीय भाव भी मानते हैं।

इन्होंने भक्ति-आंदोलन के अध्ययन में सूरदास पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की है, भक्तिकाव्य के अन्य कवि गौण हो गये हैं जबकि

सभी कवियों का गहराई से अध्ययन एवं अनुशीलन आवश्यक है।

अन्य आलोचक :-

ऊपर उद्धृत इन ठोस आलोचनाओं के अलावा हमने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कुछ लेख भी देखे हैं, जो इस दिशा में हमारे अध्ययन के स्रोत रहे हैं। इनमें प्रमुख लेख व निबन्ध इस प्रकार हैं--

डॉ॰ विजेंद्रनारायण सिंह का लेख "कबीर : ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह" § हिन्दुस्तानी- भाग - 38, अंक 3-4 §, सावित्री चन्द्र "शोभा" द्वारा लिखित "मध्यकालीन साहित्य में असहमति और विरोध" §आलोचना, जनवरी, मार्च, 1979 §, विश्वनाथ त्रिपाठी का "वर्ण व्यवस्था, नारी और भक्ति-आंदोलन" §आलोचना, अक्तूबर, दिसंबर, 1978§, कृपाशंकर सिंह का लेख "कबीर की विद्रोही मानसिकता की पृष्ठभूमि §आलोचना, जनवरी-मार्च, 1985§, कुँवरपाल सिंह का निबंध "भक्तिकाल का मार्क्सवादी मूल्यांकन" §पहल, "नवजागरण और इतिहास चेतना" विशेषांक, 1994§ और लल्लनराय का निबंध "भक्ति-आंदोलन की क्रांतिकारिता बनाम जनवादी चिंतन-धारा की विरासत" § पहल, "नवजागरण और इतिहास चेतना" विशेषांक, 1994§ आदि लेख उल्लेखनीय हैं।

इन सभी लेख व निबंधों के अध्ययन से हमें मध्यकालीन भारत की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों की

जानकारी मिलती है और भक्त कवियों की सामाजिक चेतना का परिचय भी मिलता है।

यहाँ तक हिन्दी के प्रमुख मार्क्सवादी आलोचक और उनकी भक्ति-आंदोलन संबंधी व्याख्याओं का परिचयात्मक ब्यौरा प्रस्तुत किया गया है। इसी अध्याय में आगे चलकर यह देखा जायेगा कि इतिहासकारों ने, जो प्रमुखत: मार्क्सवादी दृष्टि रखते हैं, भक्ति-आंदोलन की किस रूप में व्याख्या की है।

प्रमुख इतिहासकार :

भक्ति-आंदोलन की मार्क्सवादी दृष्टि से व्याख्या करनेवाले प्रमुख इतिहासकार इस प्रकार हैं -- डी॰ डी॰ कोसंबी, डॉ॰ इरफान हबीब, डॉ॰ रशीद, डॉ॰ रामशरणशर्मा, हरबंश मुखिया, सतीश चन्द्र, हीरेनगोहेन और एम॰ जी॰ एस॰ नारायणन एवं वेलुभट केशवन (द्वय) आदि।

डी॰डी॰ कोसांबी:

मार्क्सवादी दृष्टि से भक्ति की व्याख्या करनेवाले प्रथम इतिहासकार के रूप में डी॰डी॰ कोसांबी को देखते हैं। उनकी किताब "मिथक और यथार्थ" में "भगवद्‌गीता के सामाजिक और आर्थिक पक्ष" नामक अध्याय "भक्ति" के विवेचन में अत्यंत महत्व रखता है।

लेखक इसमें भगवद्गीता की आलोचना करते हुए इसे एक "चपल अवसरवादिता" का ग्रंथ मानते हैं। "गीता" की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए लेखक बताते हैं कि "भगवद्गीता उच्च-वर्गों के लिए ब्राह्मणों द्वारा और उन्हीं के द्वारा दूसरों के लिए भी गायी गयी है।"[1] अर्थात यह उच्च-वर्गों के स्वार्थों को दृष्टि में रख कर उनके हित में लिखी गयी रचना है।

लेखक एक तरफ़ गीता को असंगतियों से भरपूर ग्रंथ मानते हुए भी दूसरी ओर उसमें पायी जानेवाली "भक्ति-भावना" को महत्व देते हैं। वे भक्ति को अनेक प्रकार की विचारधाराओं का मूलस्रोत मानते हैं।

लेखक भक्ति को सामंतवादी-व्यवस्था की पुष्टि करनेवाला मानते हैं। "सामंतवादी विचारधारा में भक्ति का स्थान परम महत्व का था क्योंकि यह उनकी आधारभूत आवश्यकता थी।"[2]

तात्पर्य यह है कि भक्ति, भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सामाजिकों की एक विचारधारात्मक सृष्टि है, जो उत्पादन साधन एवं संबंधों तक सीमित है।

---

1. डी॰डी॰ कोसांबी, "मिथक और यथार्थ" , पृ॰ 18
2. वही, पृ॰ 37

मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन में ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम आदि महाराष्ट्रीय सन्तों के योगदान पर लेखक ने अधिक ध्यान दिया है।

डॉ॰ इरफ़ान हबीब :

डॉ॰ इरफ़ान हबीब के दो लेख, 15वीं शताब्दी के एकेश्वरवादी आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (HISTORICAL BACKGROUND OF THE MONOTHEISTIC MONUMENT IN THE 15 TH CENTURY) और "16 वीं शताब्दी के कृषि संबंधी स्थितियों के प्रमाण : गुरु ग्रंथ साहब" (EVIDENCE FOR SIXTEENTH CENTURY AGRARIAN CONDITIONS IN THE GURU GRANTH SAHEB) उल्लेखनीय हैं।

प्रथम लेख का संक्षिप्त सारांश इस प्रकार है; कबीर, रैदास, नानक आदि द्वारा परिचालित लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलन, उसके साथ साथ चलनेवाले सगुणवादी, सांप्रदायिक भक्ति-आंदोलन से, जिसके परिचालक तुलसी, सूर जैसे महान संत थे, अपना अलग अस्तित्व रखता है। लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलन का आशय केवल हिन्दू धर्म और इस्लाम के विचारों का मेल-मिलाप ही नहीं था, बल्कि इसके विचारों में नवीनता भी थी, जैसे ईश्वर का ऋणदाता (MONEY-LENDER) के रूप में चित्रण करना, कर्तव्य पर अधिक बल देना

आदि तत्कालीन वास्तविक जीवन-क्रम को स्पष्ट करते हैं।

इस एकेश्वरवादी आंदोलन का लोकप्रिय होने का कारण, एक तो, इसके नेताओं में अधिकतर लोग निम्न जातियों के रहे, दूसरा, इसके अनुयायियों में बहुतेरे शिल्पी वर्ग एवं कृषक वर्ग में से आये। यह बात सन्तों के प्रादेशिक भाषाओं में लिखित रचनाओं से व्यक्त होती है। सतनामी और सिखों के अनुयायी भी ज्यादातर किसान ही थे।

अधिक संख्या में शिल्पी एवं किसान-वर्गों से इस आंदोलन की ओर आकृष्ट होने के कारणों को भी लेखक यहाँ ज़िक्र करते हैं, जो भक्ति-आंदोलन के उद्भव और विकास के कारणों को स्पष्ट करता है।

अपने दूसरे लेख "16 वीं शताब्दी के कृषि संबंधी स्थितियों के प्रमाण : गुरु ग्रंथ साहब" में इरफ़ान हबीब साहित्य को समकालीन सामाजिक-रचना का प्रमाण देनेवाला सिद्ध करते हैं। सामाजिक इतिहास के अध्येता विद्यार्थियों के लिए तो यह साहित्य जो आध्यात्मिक आचार्यों द्वारा जन भाषा में लिखा गया था, अत्यंत महत्व रखता है। और, "गुरू ग्रंथ साहब" में इन मध्यकालीन सन्तों, भक्तों की रचनाओं को संकलित करने के कारण, यह ग्रंथ 16 वीं शताब्दी के किसान-अधिकार, कर-प्रक्रिया, ग्राम-जीवन आदि को भी बताता है। कबीर, रैदास, नानक, गुरु अर्जुन देव आदि की रचनाएँ

अपने-अपने प्रांतों की विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों की जानकारी देती हैं। लेखक इस ग्रंथ में संकलित कबीर आदि सन्तों के दोहे और पदों का उदाहरण देते हुए उनमें 16 वीं शताब्दी के भारत की सामाजिक एवं राजनीतिक गतिविधियों को उभारते हैं।

डॉ॰ रशीद :

डॉ॰ रशीद, अपनी किताब "मध्यकालीन भारत में समाज और संस्कृति" (SOCIETY AND CULTURE IN MEDIEVAL INDIA) के नौवें अध्याय "भक्ति : एक सामाजिक शक्ति" (BHAKTI AS A SOCIAL FORCE) में भक्ति को एक सामाजिक शक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इसमें कबीर, गुरुनानक और चैतन्य की रचनाओं के योगदान का उल्लेख किया गया है।

लेखक चैतन्य के ईश्वर-आराधना में "कीर्तन" के महत्व को बताते हैं, जो सामूहिक आराधना पद्धति थी और जिसमें सभी लोग अपने सामाजिक स्तर, वृत्ति, संपत्ति आदि भेद-भावों से अनपेक्षित या अनभिज्ञ होकर इसमें भाग ले सकते थे। इसलिये ये कीर्तन विभिन्न जातियों के बीच संगठन का कार्य करते हैं।

लेखक के अनुसार, भक्ति एक शक्ति है, जो उच्च और निम्न जातियों के भेदभाव को दूर करने में समर्थ है। यह भक्ति चाण्डाल

और उसी प्रकार की मिश्रित जातियों को मंदिरों में प्रवेश दिलाती है, नारी को आध्यात्मिक कार्य-कलापों में स्थान देती है, धार्मिक उपचारों के प्रति कटु व्यवहार तथा हिन्दू-मुसलमान निकटता के प्रयत्न करती है।

इस प्रकार लेखक भक्ति को सामाजिक क्रांति उत्पन्न करनेवाली शक्ति बताते हैं।

डॉ॰ रामशरण शर्मा :

"भक्ति" का एक बृहत आंदोलन के रूप में उद्‌भव और विकास "मध्यकाल" में हुआ था और किसी भी नवीन विचारधारा के इस प्रकार जन-प्रिय होने के मूल में छिपे युगीन जन-साधारण की भूमिका की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तभी, इस आंदोलन के उद्‌भवके कारणों के मूल तक पहुँचने के लिए हमें युगीन परिस्थितियों की जानकारी आवश्यक है, जो प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ॰ रामशरण शर्मा की छोटी सी रचना "पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन (500 - 1200 ई॰)" से प्राप्त होती है। इस रचना में 500 से 1200 तक के बीच के सात सौ साल की अवधि में भारतीय समाज में घटित सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों का विश्लेषण मिलता है। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि यह समय भारत में तुर्की शासन की स्थापना से पूर्व का समय था।

लेखक इस काल की आर्थिक व्यवस्था को अवरुद्ध आर्थिक व्यवस्था बताते हैं। उनके अनुसार आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन का मुख्य कारण राजाओं का भू-दान (भूमि को दान में दे देना) रहा। परन्तु किसानों से अपने दान में प्राप्त भूमि के साथ बन्धे रहने की अपेक्षा की जाती थी। कारीगर, खेतिहर और मज़दूरों को अन्य प्रांतों में जाने की स्वतंत्रता नहीं दी जाती थी। इसलिए व्यापार का ह्रास, तद्वारा आर्थिक स्थिति अवरुद्ध हुई थी।

पश्चात् लेखक आलोच्यकाल में वर्ण व्यवस्था की स्थिति की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। उनकी मान्यता है कि उत्तर भारत में इस कालमें वर्ण व्यवस्था टूट कर अनेक जातियों में बँट गयी थी। लेखक के अपने शब्दों में "उत्तर भारत में पूर्वकाल से ही अनेक जातियों का वर्गीकरण क्षत्रिय और वैश्य के अंतर्गत होता आया है। लेकिन दक्षिण भारत में हम मुख्यत: ब्राह्मणों और शूद्रों को ही पाते हैं, मध्यवर्गी जातियों को नहीं। यह विचित्र स्थिति पूर्वमध्यकाल से ही लक्षित होती है। ... पूर्वमध्यकाल जातियों की संख्या में टूट-टूट कर वृद्धि और खण्डों में बँटने का काल है। विद्यमान वर्ण कई जातियों में विभाजित हो गये तथा अनेक नयी जन-जातियाँ और जातियाँ इसमें सम्मिलित कर ली गयी।"[1]

अर्थात् पूर्वमध्यकालीन भारत में जाति व्यवस्था का प्रामुख्य अपनी चरमसीमा पर था।

---

1. डॉ. रामशरण शर्मा : "पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन (500-1200) पृ. 16, 17

इसीलिये आगे चलकर मध्ययुग में इस जाति-व्यवस्था के बंधनों को ढीला करने के प्रयत्न में भक्त कवियों को आगे बढ़ना पड़ा था।

"भारतीय सामंतवाद ‡ 300-1200 ई॰ ‡", आपका दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जो सामंतवाद के संबंध में हमारे मन में उठनेवाली आशंकाओं का समाधान करता है। अर्थात् यह ग्रंथ सामंतवाद की सही सही परिभाषा प्रस्तुत करता है।

लेखक भारत में दो प्रकार के सामंतवाद के अस्तित्व को बताते हैं; एक प्रकार का सामंतवाद वह है, जो राजनीतिक सत्ता का विघटन एवं विकेन्द्रीकरण है और यह भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापना के पूर्व कई बार आया था।

दूसरे प्रकार के सामंतवाद को लेखक के ही शब्दों में, "हम सामंतवाद को एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखें, जिसमें किसानों की ज़मीन और देह पर अपने उच्चतर अधिकारों के द्वारा श्रीमन्त-वर्ग उपज का सारा अतिरिक्त हिस्सा हड़प लेता था और किसानों के पास उतना ही छोड़ता था जितना खा-पहनकर वे उस वर्ग के लाभ के लिए आगे भी मेहनत-मशक्कत करते रह सकें, तो कहा जा सकता है कि यह चीज़ भारत में गुप्तकाल से पूर्व कभी नहीं आई।"[1]

---

1. डॉ॰ रामशरण शर्मा : "भारतीय सामंतवाद" पृष्ठ 279

मध्यकालीन भारतीय सामंतवाद इसी दूसरे प्रकार का सामंतवाद था जो किसानों पर ज़ुर्म और अत्याचार ढाता था। इस सामंतवाद को लेखक भारत में गुप्तकाल के पतन के बाद पाँच शताब्दियों तक जीवंत बताते हैं और इस पाँच वर्ष की अवधि को वे पुरातन सामंतवाद का परमोत्कर्ष काल कहते हैं; क्योंकि यह भारत में तुर्कों के साम्राज्य स्थापन के पूर्व चरम सीमा पर था। तुर्की शासन की स्थापना के पश्चात् मुद्रा का चलन एवं व्यापार -वाणिज्य के पुनरुद्धार के कारण सामंतवाद टूट गया था। इसलिए मध्यकालीन भारतीय समाज व्यवस्था ह्रासोन्मुखी सामंती व्यवस्था थी।

डॉ॰ रामविलास शर्मा द्वारा मध्यकालीन समाज को ह्रासोन्मुखी सामंती समाज बताने की बात की पुष्टि हमें इतिहासकार की इसी रचना द्वारा मिलती है।

इस प्रकार इतिहासकार रामशरण शर्मा की ये दोनों रचनाएँ, मध्यकालीन भारतीय भक्ति-आंदोलन की सामाजिक पृष्ठभूमि का परिचय देकर, हमें इस कार्य में आगे बढ़ने के लिए दिशा निर्देश करती हैं।

<u>डॉ॰ हरबंश मुखिया :-</u>

"इतिहास और समाज" (HISTORY AND SOCIETY) नाम से श्री देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय द्वारा संपादित इस ग्रंथ में

डॉ॰ हरबंश मुखिया का लेख "भक्ति-आंदोलन : दादूदयाल के संदर्भ में" (THE IDEOLOGY OF THE BHAKTI MOVEMENT : THE CASE OF DADU DAYAL) एक विशेष उल्लेखनीय लेख है।

इस लेख में दादूदयाल को भक्ति-आंदोलन के नेताओं में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और इस भक्त-कवि को समकालीन सामाजिक चेतना का विश्लेषण इनकी रचनाओं के परिप्रेक्ष्य में यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

दादू की रचनाओं में "ईश्वर" का "साहिब", "सुलतान", "महाराज" आदि नामों से संबोधन और उनके ईश्वर के दरबार में शाही दरबार के सभी चीज़ों का होना, जैसे, दासियाँ, कविगण, नर्तकी, वाद्यकार, धनागार, वार्ताहर, दीवान और सैनिक आदि का वर्णन मिलता है।

ईश्वर और मनुष्य के बीच के संबंध को दादू मालिक और दास के बीच का संबंध बताते हैं। दादू के अनुसार ईश्वर के सच्चे सेवक को ऐसा होना चाहिए कि उसे अपने ईश्वर/स्वामी के हाथों मरने के लिए भी खुशी से तैयार हो जाना चाहिए। वह इतना शक्तिशाली है कि पहाड़ को राई और राई को पहाड़ बना सकता है।

दूसरी ओर लेखक दादू की रचनाओं में ईश्वर कृपा संबंधी विचारों को भी इस प्रकार बताते हैं कि "अपने सेवकों के प्रति ईश्वर की दया की कोई सीमा नहीं है। वह अपने सेवकों की रक्षा करनेवाला है। वह उनकी सभी गलतियों को क्षमा करनेवाला है।"[1]

दादूदयाल के ईश्वर के प्रति व्यक्त इन विचारों को प्रसिद्ध इतिहासकार अबुलफ़ज़ल के सम्राट (अकबर) संबंधी विचारों से यहाँ लेखक तुलना करते हुए उनके बहुत सारे साम्य दर्शाते हैं।

समकालीन राजा अकबर की प्रशंसा में यों कहते हुए कि "सम्राट अकबर का वह राजपद ईश्वर की देन है और उस युग का प्रभु है। वह केवल ईश्वर का ही जवाबदेह है", सम्राट एवं ईश्वर के बीच संबंध साम्यता देखने का दादू का अंदाज़ लेखक की सूक्ष्म दृष्टि से ओझल नहीं है।

इसमें लेखक का आशय यह है कि भक्ति को सामंती-व्यवस्था अपने अनुकूल बना लेता है। अर्थात् भक्ति सामंती-व्यवस्था का पोषण करती है।

इसके अलावा लेखक दादूदयाल की रचनाओं में स्थान पानेवाले

---

1. डॉ. देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय : "इतिहास और समाज," पृ. 447

अन्य सामाजिक वर्गों, जैसे व्यापारी, बंजारा, किसान और जुलाहा आदि का भी विश्लेषण करते हैं। इस कार्य के लिए वे "दादूदयाल ग्रंथावली" को प्रामाणिकता के रूप में लेते हैं और उसे मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की गतिविधियों को समझने एवं युगीन शासन तथा समाज की जानकारी देनेवाले ग्रंथ के रूप में भी स्वीकार करते हैं।

डॉ॰ सतीशचंद्र :-

डॉ॰ सतीश चंद्र की 'आलोचना' में प्रकाशित लेख "उत्तर-भारत में भक्ति-आंदोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि", उत्तर भारत में भक्ति-आंदोलन के विकास का समग्र चित्र प्रस्तुत करता है।

इतिहासकार डॉ॰ सतीश चंद्र मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन के महत्व को इस प्रकार बताते हैं कि "ई॰पू॰ छठी शताब्दी और दूसरी शताब्दी के बीच बौद्ध धर्म के उदय और विकास के बाद भारतीय परिवेश में निस्संदेह मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन सबसे अधिक विस्तृत, दूरगामी और बहुस्तरीय आंदोलन था। भक्ति-आंदोलन ने अलग-अलग समय पर पूरे देश को प्रभावित किया और न सिर्फ़ धार्मिक उपदेशों, रूढ़ियों, मूल्यों और लोक-विश्वास बल्कि कला और साहित्य पर भी प्रभाव डाला। कुछ क्षेत्रों में संगठित और मज़बूत होती मुगल सत्ता की विरोधी शक्तियों ने विकास की ख़ास अवस्था

में भक्ति आंदोलन को मोर्चे के रूप में इस्तेमाल किया। साँस्कृतिक क्षेत्र में भक्ति, संगीत, नृत्य , चित्रकला, मूर्तिकला आदि के उद्भव का भक्ति-आंदोलन से आत्यन्तिक संबंध है।"[1]

लेखक के अनुसार भक्ति-आंदोलन मध्यकाल का एक महत्वपूर्ण आंदोलन था ही, साथ-साथ साँस्कृतिक क्षेत्र को भी उसने अत्यंत प्रभावित किया। इसमें लेखक एक विशेष बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं, वह है, इस आंदोलन का मोर्चे के रूप में इस्तेमाल किया जाना। लेखक का इशारा जाट, सतनामी, सिख आंदोलनों की ओर ही था, जो मुगल सत्ता के विरोध में थे ।

लेखक ने इसमें एक और महत्वपूर्ण बात्त यह भी कहा है कि वे इसे "जन-आंदोलन" मानने के पक्ष में नहीं हैं। उन्हीं के शब्दों में, "भक्ति-आंदोलन को सही अर्थों में जन-आंदोलन कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य अपवाद रूप में इसके अप्रत्यक्ष प्रभाव को छोड़ दें तो जनता के जीवन-स्तर में बदलाव का नहीं बल्कि निज की मुक्ति एवं ईश्वर से रहस्यात्मक एकात्म का था।"[2]

तात्पर्य यह है कि डॉ॰ सतीश चन्द्र इसे "जन-आंदोलन" मानने के पक्ष में नहीं हैं। उनका दलील है कि जन-आंदोलन" का रूप उसका

1• डॉ॰ सतीश चन्द्र : "उत्तर भारत में भक्ति-आंदोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि," आलोचना, जनवरी-मार्च 86 पृ॰ 15•

2• वही, पृ॰ 15

अप्रत्यक्ष था, और उसका प्रत्यक्ष रूप निज की मुक्ति पाना ही था।

मान लें कि भक्त-कवियों का उद्देश्य निज की मुक्ति पाना ही था तो उन्होंने भक्ति-आंदोलन को मोर्चे के रूप में क्यों इस्तेमाल किया, जिसका ज़िक्र स्वयं लेखक ने किया है। और, "आंदोलन" शब्द में ही "सामूहिकता" की झलक हो जाती है, तो सिर्फ़ निज की मुक्ति में ही घिरे रहनेवाले भक्तों से तो आंदोलन का रूप नहीं बन जाता। लेखक के कहे अनुसार, यह आंदोलन कुछ हद तक मुक्ति की कामना लिये हुए भगवान की आराधना से शुरु ज़रूर होता है, फिर भी इसमें भारत का समस्त जन-साधारण अपनी भलाई और स्वार्थ को देखता है और एक जुट होकर इसमें अपना सहयोग देता है। इसीलिए यह भक्ति-आंदोलन न केवल उत्तर में और न केवल दक्षिण में ही बल्कि भारत के सभी प्रान्तों को प्रभावित करता है।

ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ पर सभी विद्वानों ने केवल "मध्यकालीन" भक्ति-आंदोलन को ही "जन-आंदोलन" का नाम दिया है। उससे पूर्व के भक्ति-परंपरा के विकास को "जन-आंदोलन" ही नहीं, कम से कम "आंदोलन" नाम भी नहीं दिया गया। उसे मात्र "भक्ति-साहित्य" ही कहा गया था।

इसके अलावा, जिन सन्तों एवं भक्तों ने इस आंदोलन का नेतृत्व किया था, उनके अनुयायियों में शिल्पी, किसान और व्यापारी

सभी शामिल थे और उनकी अभिलाषा ईश्वरपरक मुक्ति पाने की नहीं थी बल्कि शोषण से मुक्ति पाने की थी।

लेखक भक्ति-आंदोलन के लोकप्रिय रूप के विकास में इस्लाम के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। वह इस प्रकार है कि "बारहवीं सदी के अंतिम दशकों में तुर्कों द्वारा राज्यों के विजय और इस्लाम के आगमन ने ऐसी प्रभावशाली शक्तियों को बढ़ावा दिया, जिसने परवर्ती सदियों में लोकप्रिय आंदोलन के रूप में भक्ति के विकास का मार्ग प्रशस्त किया।"[1]

सतीशचन्द्र के अनुसार, इसे लोकप्रिय-आंदोलन का रूप 15, 16 वीं शताब्दियों में प्राप्त हुआ था। शिल्पी वर्ग तथा अन्य निम्न वर्ग समकालीन हिन्दू-समाज एवं ब्राह्मण आधिपत्य से असंतुष्ट थे, इसलिए वे कबीर, दादू आदि द्वारा परिचालित एकेश्वरवादी आंदोलन में शामिल होना चाहते थे, जो जाति - वर्ग - भेद से परे, समता का मार्ग अपनानेवाला था।

और, "भक्ति-आंदोलन जैसे भविष्य सूचक छोटे आंदोलन इन तत्वों को मोक्ष की आशा दिलाकर तथा भक्तों को इस लोक में भी ऊँचा दर्जा प्राप्त करने की संभावना बताकर आकर्षित करते थे। निस्संदेह ऐसी भावनाओं का विकास तब तक संभव नहीं, जब तक ब्राह्मणों

---

1. डॉ॰ सतीश चन्द्र : "उत्तर भारत में भक्ति-आंदोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि," आलोचना, जनवरी-मार्च 1986, पृ॰ 19

की पुरानी मूल्य व्यवस्था, सिद्धांत और अनुशासन प्रतिष्ठित रहते।"[1]

लेखक की राय है कि समाज में ब्राह्मण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा को पूर्ण रूप से समाप्त करने के प्रयत्नों में कुछ हद तक कामयाबी हासिल होने के पश्चात् ही भक्ति-आंदोलन का लोकप्रिय रूप सामने आता गया।

हीरेन गोहेन :-

हीरेन गोहेन ने अपने लेख "लेबिरिन्थ आफ भक्ति" (LABYRINTH OF BHAKTI) में मध्ययुगीन भारत की विभिन्न सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का आधार स्पष्ट करते हुए भक्ति-आंदोलन पर उसके प्रभाव को रेखांकित किया है।

"भक्ति-आंदोलन" का जन्म, लेखक के अनुसार, भगवद्गीता एवं भागवत पुराण से होता है, जो विष्णु के अवतारवाद एवं शैव-भक्ति, दो रूपों में प्राप्त होता है।

लेखक ने अपने इस लेख में भक्ति-आंदोलन से संबंधित कुछ महत्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं और उनका विवेचन किया है।

---

1. डॉ. सतीश चन्द्र : "उत्तर भारत में भक्ति-आंदोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि," आलोचना, जनवरी-मार्च, 1986, पृ. 19

उनके विचारों का संक्षिप्त रूप हम इस प्रकार देखेंगे; नई तकनीक के इस्तेमाल के कारण कृषि में प्रगति हुई थी। वस्तु-व्यापार में उन्नति एवं फैलाव, तथा औद्योगिक विकास, धन का व्यापक रूप में चलन और प्रयोग और व्यापार की उन्नति, नगरों का विकास आदि मध्यकालीन आर्थिक परिस्थितियों में स्थान पानेवाले ये मौलिक परिवर्तन, उदार सामाजिक संबंधों के विकास और जाति-व्यवस्था के बंधनों को ढ़ीला करने में सहायक रहे।

एम॰ जी॰ एस॰ नारायणन और वेलुतट केशवन :-

लेखकद्वय के निबंध "दक्षिण भारत में भक्ति-आंदोलन" (BHAKTI MOVEMENT IN SOUTH INDIA) का मूल वक्तव्य दक्षिण में भक्ति-आंदोलन के उद्भव और विकास के कारणों की खोज है।

इनके अनुसार, दक्षिण भारत में भक्ति-आंदोलन दो अलग-अलग शैव और वैष्णव धाराओं में प्रवाहित है। दक्षिण में वैष्णव भक्तों को "आलवार" और शैव भक्तों को "नयनार" कहा जाता रहा है और यह आंदोलन एक सामाजिक चेतना के रूप में अपनी पहचान नौवीं शताब्दी में कराता है।

प्रारंभिक इतिहासकार इस भक्ति-आंदोलन को साहित्यिक, दार्शनिक भावनाओं पर आधारित आंदोलन मानते थे।

अपने इस लेख में लेखकद्वय का आशय भारत में भक्ति-आंदोलन को समाज एवं संस्कृति के क्रमिक विकास के संदर्भ में और उसके सामाजिक आर्थिक पक्षों के संदर्भ में प्रस्तुत करना रहा है।

दक्षिण भारत में "भक्ति" का प्रारंभ मंदिरों से मानते हैं और इस भक्ति को तीर्थ यात्राओं द्वारा मंदिरों के बीच संबंध बनाये रखने वाला तत्त्व भी मानते हैं। दक्षिण भारत का भक्ति-साहित्य भी मंदिरों को केन्द्र बना कर लिखा जाता था और यह साहित्य सामंती व्यवस्था को प्रतिष्ठित कर उसकी पुष्टि करनेवाला साहित्य था।

जैन और बौद्ध धर्मों जैसे अवैदिक तत्वों से हिन्दू धर्म की विजय को भक्ति-आंदोलन की सफलता के रूप में चित्रण किया गया है। यह आंदोलन समाज में स्थापित जाति-भेदों, वर्ग-भेदों के प्रति विरोध प्रकट करता है।

इस प्रकार लेखक-द्वय दक्षिण भारत में भक्ति-आंदोलन के विकास के संदर्भ में भक्ति का प्रचार करनेवाले भक्त कवियों ने किस प्रकार समकालीन प्रतिकूल समाज के प्रति अपनी असहमति एवं विरोध व्यक्त किया है -- इसका विवेचन करते हैं और उत्तर भारत में इसके क्रमिक विकास पर भी रोशनी डालते हैं।

निष्कर्ष:-

शोध प्रबंध का यह आरंभिक अध्याय मात्र परिचयात्मक है। इसके अंतर्गत हमने जिन जिन आलोचकों और उनकी रचनाओं को देखा और

परखा है, उनका मात्र परिचय ही इसमें दिया गया है। आगे के अध्यायों में इन रचनाओं का विस्तार से विवेचन होगा और इनकी उपलब्धियों एवं सीमाओं का निर्धारण करते हुए हम अपनी शोध की दिशा में आगे बढ़ते हैं।

इनमें प्रत्येक लेखक और इतिहासकार ने भक्ति-आंदोलन को अपने अपने दृष्टिकोण से व्याख्या करके, उसके भिन्न-भिन्न कोणों को जनता के सामने ला रखा है। इस प्रकार की टिप्पणियों द्वारा विद्वानों ने भक्ति-आंदोलन के किसी एक बिन्दु पर अथवा किसी एक कवि पर अधिक बल दिया है। हम इन विचारों को समेटकर उन्हें पूर्णता में देखने का प्रयत्न करेंगे।

द्वितीय अध्याय "भक्ति-आंदोलन के उद्भव और विकास के कारण" में मार्क्सवादियों ने इन कारणों को किस तरह बनाया है, इसका विवेचन किया जायेगा।

::::::::::::
::::::::::::

द्वितीय अध्याय

भक्ति-आंदोलन के उद्भव और विकास के कारण

द्वितीय अध्याय

भक्ति-आंदोलन के उद्‌भव और विकास के कारण

प्रस्तावना

(क) सामाजिक परिस्थितियाँ

1. जाति-व्यवस्था
2. नारी

(ख) आर्थिक परिस्थितियाँ

1. कृषक, कारीगर, शिल्पी तथा व्यापारी वर्गों का उदय

(ग) राजनीतिक परिस्थितियाँ

(घ) धार्मिक परिस्थितियाँ

(च) साहित्यिक, साँस्कृतिक परिस्थितियाँ

=-=

भक्ति-आंदोलन के उद्भव और विकास के कारण

=-=

प्रस्तावना

मार्क्स के अनुसार "धर्म हृदयहीन जगत का हृदय है, वह पीड़ित जनता का अफीम अथवा दवा है। धार्मिक विकल्प की ओर ले जाने वाली जीवन-पद्धति से अपने आपको मुक्त रखना ही मनुष्य के वास्तविक आनंद का मार्ग है। आत्म-मुक्ति ही मात्र वाँछनीय नहीं है : मनुष्य को उसे निम्न दिखानेवाली सभी वस्तुओं के त्याग द्वारा अपनी उच्च शक्तियों को पहचानना चाहिए।"[1]

मार्क्स के अनुसार धर्म पीड़ित मनुष्य की दवा है, तो मध्यकाल में धार्मिक स्थिति की ऊँचाई को जब हम देखते हैं तो वह भी अवश्य पीड़ित जनता के हृदयों को शाँति देनेवाली ही रही होगी। इसीलिए मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन इतने व्यापक रूप में पीड़ित जनता के लिए आकर्षक रहा।

मध्यकाल में सामान्य जनता के दु:खों के मूल में अनेक कारण थे। दु:ख के लिए सबसे प्रथम और प्रमुख कारण तो "भूख" होती है और

---

1. 'डिक्शनरी आफ मार्क्सिस्ट थाट' : संपादक टॉम बॉटमोर पृ. 413-414
('DICTIONARY OF MARXIST THOUGHT'
EDITOR : TOM BOTTAMORE)

यहाँ पर हुआ भी यही है। शासकों की शोषण नीति, तिस पर अकाल ने जनता को उनकी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति से भी वंचित रखा था। मार्क्स के "आधार-अधिरचना" के सिद्धांत के अनुसार देखा जायें तो, देश की आर्थिक परिस्थिति, अर्थात् उत्पादन के साधन एवं संबंध मनुष्य की चेतना को निर्धारित करते हैं, इसलिए आर्थिक परिस्थितियाँ आधार होती हैं, और राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा कलात्मक परिस्थितियाँ उस आधार पर निर्भर ऊपरी ढाँचा है अर्थात्अधिरचना। इस अधि-रचना की ओर मनुष्य की प्रवृत्ति तब अग्रसर होती है, जब उसकी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो।

अधिरचना के अंतर्गत साहित्य का अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी होने के नाते समाज की भलाई के प्रति अपने कर्तव्य को अपनी क्षमता के अनुसार साहित्य-रूप द्वारा व्यक्त करता है। और सामाजिक गतिविधियों से सजग होकर, जनता को भी जागृत करता है। इसी कारण भक्ति-साहित्य को हम सामाजिक परिवर्तनों का असर भी मानते हैं। मार्क्सवाद ने अवश्य पहली बार भौतिकदृष्टि से वस्तुओं, स्थितियों एवं संबंधों को परखने का ज्ञान दिया था। यही कारण है कि मार्क्सवादी विचारक भक्ति-आंदोलन के उद्भव और विकास में भौतिक कारणों को मूल कारण बताते हुए, उसे धार्मिक आन्दोलन नहीं, बल्कि

एक शुद्ध जन-आंदोलन साबित करते हैं।

भक्ति-आंदोलन के उद्भव और विकास के कारणों के अध्ययन में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं साहित्यिक, साँस्कृतिक परिस्थितियों को जानना आवश्यक है। ये ही परिस्थितियाँ हैं, जो भक्ति-आंदोलन के उद्भव और विकास में अपनी भूमिका अदा करती हुई दिखाई देती हैं। इस क्रम में सबसे पहले सामाजिक परिस्थितियों का विवेचन आवश्यक है।

मध्यकालीन सामाजिक परिस्थितियाँ : जाति-व्यवस्था :-

मध्ययुगीन सामाजिक परिस्थितियों में जाति-व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रमुख मार्क्सवादी इतिहासकार डॉ॰ रामशरण शर्मा पूर्वमध्यकालीन सामाजिक परिवर्तनों के मूल कारणों को बताते हुए कहते हैं कि "पूर्वमध्यकालीन भारत में हुए सामाजिक परिवर्तनों के पीछे कतिपय आर्थिक घटनाओं का हाथ रहा है। इस काल की अर्थव्यवस्था का सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन भू-राजस्व और भूमि का बड़े पैमाने पर हस्तांतरण है जो राजाओं और उनके अधीनस्थों द्वारा धर्म-निरपेक्ष और धार्मिक दोनों तत्वों को किया गया था। इसका प्रमाण हमें अनेकानेक अधिकार पत्रों में मिलता है जो सामान्यतः ताम्रपत्रों पर अभिलिखित हैं। अधिकांशतः इनके द्वारा शुरु में पुरोहितों को तथा आगे चलकर अधीनस्थों और अधिकारियों को भी,

राजस्व और प्रशासकीय उन्मुक्तियों सहित, ग्रामदान दिये गये हैं। 11, 12 वीं शताब्दियों में, खास तौर से उत्तर भारत के राजपूत राज्यों में, अधीनस्थों और अधिकारियों को ग्राम और भू-राजस्व प्रदान किये गये।"[1]

भू-हस्तांतरण और ग्रामदान के कारण अधीनस्थों को अनेक अधिकार-सैनिक अधिकारों के साथ प्राप्त थे। उनके इस अधिकार-प्राप्ति की वजह से, लेखक के अनुसार, केन्द्रीय शासन और स्थानीय हिताधिकारों के बीच का आर्थिक और राजनीतिक सामंतोपसामंतीकरण (SUB FEUDALISM) का जन्म हुआ जिसका आधार था भू-राजस्व का असमान वितरण। [असमान वितरण] आगे लेखक का कहना है कि "निरन्तर भूमि-विभाजन के कारण कायस्थ नाम का एक शिक्षित वर्ग का उद्‌भव और विकास हुआ, जिसका स्थान वर्णव्यवस्था में स्पष्ट रूप से निरूपित नहीं हो सका। शूद्रों के कृषक हो जाने और वैश्यों को शूद्र की स्थिति में ढ़केल दिये जाने के कारण भी वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन हुए। इसके परिणामस्वरूप बंगाल और दक्षिण भारत की नव-स्थापित वर्ण-व्यवस्था में मुख्यत: ब्राह्मण और शूद्रों का ही स्थान रहा।"[2]

---

1. रामशरण शर्मा : "भारतीय सामंतवाद" पृ. 4
2. रामशरण शर्मा : "पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन" पृ. 25

लेखक यहाँ पर जातियों के बनने के सिलसिले की ओर इंगित करते हैं और जातियों के विभिन्न शाखाओं में बँट जाने की स्थितियों को भी बताते हैं। इनके अनुसार, मध्यकाल में दक्षिण एवं बंगाल में ब्राह्मण और शूद्र - दोनों ही जातियाँ थीं। और अछूतों की संख्या भी बेतरह बढ़ गयी थी।

पूर्वमध्यकाल की ह्रासोन्मुखी सामंती व्यवस्था एवं विभिन्न जातियों के उद्भव की इस पृष्ठभूमि में मध्यकाल की परिस्थितियों में भी परिवर्तन हुए। शूद्रों ने अपने निम्नस्तर की स्थिति से सजग होकर ब्राह्मण व्यवस्था के विरोध में विद्रोह किया।

इन निम्न वर्गों के विद्रोह को मुक्तिबोध के शब्दों में देखें, "पहली बार शूद्रों ने अपने संत पैदा किये। अपना साहित्य और अपने गीत सृजित किये। कबीर, रैदास, नाभा, सिंपी, सेना आदि आदि महापुरुषों ने ईश्वर के नाम पर जातिवाद के विरुद्ध आवाज़ बुलंद की। समाज के व्यस्त स्वार्थवादी वर्ग के विरुद्ध विचारवाद अवश्यंभावी था। वह हुआ, तकलीफें हुईं, लेकिन एक बात हो गई।"[1]

इन निम्न जाति के लोगों ने अपने विरोध के लिए ईश्वर का सहारा लिया, जो भक्ति के रूप में था और इसी प्रकार अनेक प्रांतों

---

1. मुक्तिबोध : "नई कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध," पृ. 88

के पीड़ित लोगों का इसकी ओर झुकाव ही इसे एक आंदोलन का रूप प्रदान किया।

नारी:-

समाज में नारी और पुरुष का एक समान योगदान होते हुए भी, नारी ही क्यों निम्न मानी जाती है, क्यों उसका शोषण आसानी से किया जा सकता है? मध्ययुग को हम ह्रासोन्मुखी सामंती व्यवस्था अथवा उत्तर सामंती व्यवस्था के रूप में देखते हैं तो सामंती-व्यवस्था में नारी का स्थान भी स्पष्ट हो जाता है। नारी वहाँ पर मात्र भोग की वस्तु मानी जाती थी। विशेषकर उच्चवर्ग की नारी को परदे में, घर में क़ैद होकर रहना पड़ता था। तुलसीदास के नारी के प्रति दृष्टिकोण में हमें अन्तर्विरोध दिखाई देता है। एक जगह तुलसी "नारी, शूद्र, पशु सब को निम्न-स्तर के एवं ताड़न के अधिकारी" मानते हैं, तो दूसरी जगह वे नारी के प्रति अपनी सहानुभूति भी व्यक्त करते हैं, "कत विधि सृजी नारि जग माहीं, पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।"[1] उच्च वर्ग की नारी सामंती व्यवस्था में पराधीन थी। और इसी प्रकार का अन्तर्विरोध कबीर में भी पाया जाता है। कबीर एक ओर गृहस्थ जीवन का समर्थन करते हैं, तो दूसरी ओर नारी को

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल; "तुलसीदास ग्रंथावली;" रामचरित मानस, प्रथम सोपान, पृ. 47

वे नरक का कुण्ड मानते हैं --

"नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै बाग।
कोई साधू जन ऊबरे, सब जग मूवा लाग।।"[1]

साथ ही कबीर समाज में गिरते हुए नैतिक मूल्यों पर भी प्रश्न चिह्न लगाते हैं --

"परनारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहीं।
दिवस चारि सरसा रहै, अंति समूला जांहि।।"[2]

दूसरों को स्त्री से प्रेम करनेवाले को कबीर चोरी की कमाई खाना मानते हैं, जो स्वस्थ सामाजिक संबंधों के लिए अत्यंत हानिकारक है। समाज में गिरते हुए मूल्यों को वे किस तरह दर्शाते हैं, उन्हें बचाने वे किस क़दर आतुर थे, तथा भोग विलासी पुरुष समाज से नारी जाति की रक्षा करने के लिए वे किस प्रकार कटिबद्ध थे-- यहाँ हम देखते हैं।

डी॰ डी॰ कोसाम्बी बताते हैं कि जाति-व्यवस्था के विरोध में सर्वप्रथम आवाज़ महाराष्ट्र में उठी थी। उनके ही शब्दों में, "विरोध में आवाज़ उठी महाराष्ट्र में, दो दलों की ओर से जो

1· कबीर ग्रंथावली - सं॰ भगवत् स्वरूप मिश्र, 18/15·
2· वही , 18/3·

कृष्णोपासक थे और मार्के की बात यह है कि दोनों दल आदिम अवशेषों के हिमायती थे। महानुभाव संप्रदाय की स्थापना चक्रधर ने 12 वीं सदी में की थी और उसमें जनजातीय सांप्रदायिक जीवन के आदर्श गृहीत हुए जिसका प्रमाण है, काले कपड़े धारण करना, जाति व्यवस्था को सर्वथा अस्वीकार करना, कुल या गोत्र जैसे उपसमूहों में संगठित होना, सदस्यों का आपस में हिस्सा बँटाना, और एक अत्यन्त सरलित विवाह-कर्मकाण्ड का चलन, हालांकि आगे चलकर इस संप्रदाय के कुछ नेताओं ने थोड़ी संपत्ति संचित कर ली और हिन्दुओं के समान प्रतिष्ठा के प्यासे हो गये।"[1]

आगे लेखक कहते हैं कि ज्ञानेश्वर द्वारा एक दूसरा आन्दोलन चलाया गया था। ज्ञानेश्वर का जन्म एक स्वधर्म को त्याग करनेवाले साधु से होने के कारण , ब्राह्मणों से वे ठुकराये गये थे। वे जनभाषा में लिखते थे और उनके अनुयायी भी उन्हीं का अनुसरण करते थे। उनके अनुयायियों में सभी जाति के लोग थे और वे अपने अनुभव से ही जनता के कष्टों को जानते थे।

सूरदास, मीरा और सूफ़ी सन्त जायसी ने स्त्री को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। विशेषकर सूफी सन्तों ने स्त्री को परमात्मा का रूप मानकर, जैसे जायसी के "पद्मावत" में व्यक्त होता है, उसे

---

1. डी॰ डी॰ कोसांबी : "मिथक और यथार्थ" पृ॰ 38॰

समाज में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान दिया। सूरदास ने स्त्री को सामंती-मनोवृत्ति से बाहर निकालकर कृष्ण-गोपियों के ईश्वर-भक्त संबंधों द्वारा उसे एक विशेष स्थान दिया है। मीरा तो, वह स्वयं एक सामंती परिवार की थी। उच्च वर्ग, उसमें भी सामंती परिवार में जन्मनेवाली मीरा कृष्ण भक्ति में इस क़दर विभोर हो जाती है कि वह अपने सामंती होने का कोई चिह्न नहीं छोड़ती है और उस व्यवस्था की कोई रीति-रिवाज़ का पालन भी नहीं करती है। संतों के बीच बैठी-बैठी वह अपने गिरिधर गोपाल के कीर्तन में मग्न हो जाती है। जैसे मैनेजर पाण्डेय ने बताया है - " हिन्दी क्षेत्र में अभी सामंती मूल्यों और रूढ़ियों का जितना अधिक प्रभाव है उतना देश के किसी अन्य भाग में शायद ही कहीं हो। इसलिये यहाँ स्त्रियों का जैसा शोषण, दमन और उत्पीड़न है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। यहाँ हत्या और आत्महत्या से बचा हुआ स्त्री-जीवन आग के दरिया से गुजरने के समान है। इस पराधीनता से स्त्रियों की मुक्ति का जो आन्दोलन हिन्दी क्षेत्र में अब आरंभ हुआ है, वह मीराबाई के काव्य में राजसत्ता, पुरुष सत्ता, लोकरूढ़ि और कुलीनता के विरुद्ध विद्रोह का स्वर जैसा प्रखर है वैसा उस काल के किसी अन्य कवि के यहाँ नहीं है।"[1]

---

1. डॉ. मैनेजर पाण्डेय :"भक्ति-आंदोलन और सूरदास का काव्य" पृ. 22

डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय के इस कथन का आशय है कि देश के अन्य हिस्सों से ज़्यादा स्त्री का शोषण हिन्दी क्षेत्र में होने के कारण वहीं से उस शोषण के विरोध में आवाज भी उठती है। मीराबाई का जीवन और काव्य इस विद्रोह का मूल प्रेरणास्रोत रहा है।

मध्ययुग की सामाजिक स्थितियों से जाति-व्यवस्था, नारी, वर्ग-संघर्ष , इतना ही नहीं, आर्थिक, सॉस्कृतिक, राजनीतिक, कलात्मक परिस्थितियाँ भी जुड़ी हुई हैं। इन सारी परिस्थितियों के मिले हुए रूप से ही सामाजिक संघर्ष जन्म लेते हैं।

आर्थिक परिस्थितियाँ:-

किसी भी समाज की आर्थिक परिस्थितियाँ उस समाज के उत्पादन संबंधों पर निर्भर रहती है। मार्क्सवाद की भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार इन आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन ही समाज के अन्य पहलुओं में परिवर्तन की दिशा निर्देश करते हैं।

मध्यकालीन उत्तर सामंती-व्यवस्था में मुसलमानों का शासन क़ायम होने के बाद बड़े पैमाने पर सिक्कों का चलन होता है। इसी कारण किसानों और व्यापारियों तथा कारीगरों को एक तरह से अपने माल को बेचने की स्वतंत्रता मिलती है। इससे उनकी आर्थिक परिस्थिति सुधर जाती है। इसी सुधार के कारण वे लोग समाज में अपने स्थान के लिए भी लड़ते हैं, जिसके लिए वे भक्ति का सहारा

लेकर भक्ति-आंदोलन के विकास में अपना योगदान देते हैं।

<u>कृषक, कारीगर अथवा शिल्पी तथा व्यापारी वर्गों का उदय :-</u>

भक्ति-आंदोलन के उद्भव और विकास के सिलसिले में इन वर्गों का उदय एक महत्वपूर्ण घटना है।

डॉ॰ इरफ़ान हबीब 15 वीं शताब्दी के एकेश्वरवादी आंदोलन के महत्वपूर्ण विकास के मूल में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियों में होनेवाले महत्वपूर्ण परिवर्तन बताते हैं। कबीर, रैदास, नानक को वे इस आंदोलन के त्रयी मानते हैं और सेन, धन्ना, दादू एवं नामदेव को इस आंदोलन को आगे बढ़ानेवाले संत बताते हैं।

शिल्पी-वर्ग एवं कृषक-वर्ग का इस आंदोलन की ओर झुकने के कारणों को भी वे स्पष्ट करते हैं। "तुर्की शासन में कारीगर-वर्ग का विस्तृत फैलाव तथा मुगल शासन काल तक उसका और भी ज़्यादा बढ़ना, गुलाम-बाज़ार, कारीगर-वर्ग की हीन परिस्थिति आदि कारीगरों को एकेश्वरवादी आंदोलन की ओर ले गये। दूसरी तरफ जाट-किसान जिनका एक समय समाज में निम्न स्थान था, वे लोग समकालीन अन्य कृषक समाज से निम्नतर माने जाते थे तथा उनकी पूर्व घुमन्तू प्रवृत्ति के कारण उन पर जो धब्बा आया था, उस धब्बे को धोने के लिए, साथ ही अपने सामाजिक स्तर को ऊँचा

करने के लिए वे एकेश्वरवाद की ओर झुके थे।"[1]

जाटों का अपने सामाजिक स्तर को बढ़ाने का मोह ही, एकेश्वरवादी आंदोलन की ओर ले गया था जो उनका निहायत भौतिक स्वार्थ था।

जाटों के किसान के रूप में परिवर्तित होने का कारण था, "सिन्ध प्रांत में पर्शियन व्हील के उदय के कारण सिंचाई में वृद्धि, तद्वारा खेती में वृद्धि हुई थी, जो जाटों को अपनी वृत्ति को छोड़कर कृषक के रूप में व्यापक रूप से एक जगह स्थिर होने में सहायक रहा।"[2]

जाटों के इस आंदोलन में निस्वार्थ होकर भाग लेने की बात को बताते हुए लेखक कहते हैं कि "जाटों के कारीगर से कृषक-रूप में परिवर्तन के कारण यह आंदोलन अपने-आप ऊँचे स्थान पर पहुँच गया। क्योंकि सिक्ख तथा सतनामियों में जाटों को ही ज़्यादा महत्व प्राप्त था, जो गौरव उन्हें पहले नहीं था। और जाट लोग निस्संदेह निस्वार्थ होकर सामाजिक भेद-भाव के खिलाफ़ थे, इसका साथ उन्हें समकालीन एकेश्वरवादी-आंदोलन ने दिया।"[3]

---

1. डॉ. इरफ़ान हबीब : "हिस्टारिकल बेकग्रौंड आफ दि मोनो-थीइस्टिक मूवमेंट इन द 15 सेंचुरी" पृ. 12
2. वही, पृ. 11
3. वही, पृ. 12

यहाँ इतिहासकार डॉ॰ इरफान हबीब एकेश्वरवादी आंदोलन के विकास में इन जाट किसानों के योगदान को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते हैं।

खेती में वृद्धि के कारण पैदावार में भी वृद्धि होती है जिसके द्वारा आर्थिक परिस्थिति में उन्नति होती है। मध्यकालीन भारत में आर्थिक परिस्थिति में वृद्धि का एक महत्वपूर्ण आधार खेत था।

इतिहासकार डॉ॰ ग्रेवल के कथन से मध्यकालीन भारत की आर्थिक परिस्थितियों का ज्ञान प्राप्त होता है। उनके अनुसार, खेतीमेंबढ़ोत्तरी के कारणों को इस प्रकार देख सकते हैं कि "अप्राकृतिक तरीकों से सिंचाई में वृद्धि जैसे, सिन्द प्रान्त में पर्शियन व्हील का इस्तेमाल, कुएँ खुदवाना, भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए गोबर आदि का प्रयोग। एक तंजाऊर में ही खेतो में लायी गयी ज़मीन में 50% ज़मीन को सिंचाई की सुविधा प्राप्त थी। उच्च मूल्य रखनेवाले फसल जैसे, रुई, ईख आदि भी आर्थिक स्थिति में अत्यंत महत्त्व रखते हैं।

वस्त्रों की स्थिति में भी वृद्धि हुई थी। बड़े परिमाण में सूत के कपड़े की तैयारी, गांलीचों की, शॉल्स की तैयारी आदि बडे पैमाने पर चलते थे। पेपर की तैयारी, लोहे का उधोग,

सिक्कों की तैयारी, औज़ार, पीतल का काम आदि तथा गुड, चीनी, मिसरी आदि का उत्पादन बड़े परिमाण में होता था। रवाणा के साधनों की तैयारी भी थी।

13 वीं 14 वीं शताब्दियों में गुलाम व्यवस्था का चलन भी शिल्पी के काम में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रहा। वस्तुओं की वृद्धि में नगर एवं शहरों का भी स्थान रहा। दिल्ली के सुल्तानों द्वारा चाँदी और सोने के सिक्कों के अधिक संख्या में चलन से व्यापार में वृद्धि की स्थिति को पहचान सकते हैं।

साहु, सर्राफ़, महाजन, दलाल आदि की संख्या भी गणनीय रूप में बढ़ गयी।

मध्ययुग में विदेशी व्यापार का अधिक विस्तार हुआ। समुद्री व्यापार भी बढ़ा था।"[1]

मध्यकाल में व्यापार एवं उद्योग में होनेवाले इन सारे परिवर्तनों के कारण आर्थिक परिस्थितियों में सुधार हो गया था। इसके साथ साथ शासन-व्यवस्था में सर्राफ़, साहु, महाजन, दलाल आदि की संख्या भी बढ़ने के कारण शोषण का दायरा भी बढ़ गया। वे महाजन लोग अपनी सुविधाओं के लिए साधारण जनता पर कर का अधिक भार

---

1. प्रो. जे. एस. ग्रेवल : "सोशल चेंज इन मीडिवल इंडिया"

लाद कर उनका शोषण करने लगे थे। जागीरदारी व्यवस्था एक और उल्लेखनीय व्यवस्था है जो शोषण की दिशा में अग्रसर था। इन सारी शोषण परिस्थितियों से असंतुष्ट जनता में विद्रोह की भावनाएँ पैदा होने लगीं। कबीर, दादू आदि संत महात्मा लोगों से शोषण के प्रति अपने विरोध के लिए साधारण जनता को एक संबल मिल गया था जो ईश्वर के रूप में था तथा उसके आगे कोई छोटे-बड़े भेद-भाव नहीं थे। यही महत्वपूर्ण कारण है कि भक्ति एक व्यापक आंदोलन का रूप ले लेती है।

डॉ. इरफ़ान हबीब एवं डॉ. ग्रेवल के "आर्थिक" संबंधी विचारों से मिले-जुले विचार मेघ ने भी व्यक्त किये हैं। उन्होंने समाज में कृषक, मज़दूर, कारीगर, व्यापारी वर्गों के अस्तित्व एवं उनकी आर्थिक स्थिति-विधान को तुलसी-काव्य के ज़रिए बताते हुए, तुलसी की मध्यकालीनता बोध को स्पष्ट करते हैं। उनके कुछ विचार इस प्रकार हैं, "तुलसीदास के समय ज़मींदार, जागीरदार, कृषक और व्यापारी वर्ग में समाज बँटा था। कृषकों के कई स्तर थे : भिखारी, किसबी (गृहस्थ किसान), मज़दूर (किसान), कृषिदास (गुलाम), बेगार करनेवाले कृषक आदि। इन्हीं के साथ कुटीर उद्योग के द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाले कारीगर या "शिल्पी" थे।

कारीगरों का व्यक्तिगत श्रम ही नहीं कारखानों में सामूहिक श्रम भी होता था; और कम मज़दूरी देकर उनका अतिरिक्त-मूल्य

ज़मींदारों के शोषण को अर्पित था। खानों से धातु और धातुओं की वस्तुएँ, खेतों से कपास, पटसन, रेशम-कीड़े और वस्त्रादि; फौज़ के लिए तोप, तोप-गोले, हथियार आदि; तथा विकास के लिए नाना वस्तुओं का निर्माण होता था। इस भाँति ग्रामीण अर्थतन्त्र भी विकसित हो रहा है। साधारण जनता की क्रयशक्ति नहीं के बराबर थी, धन के बजाय माल का विनिमय था क्योंकि धन सामन्त वर्ग के पास केन्द्रित था। इसलिए किसान खेतों से बेदखल होकर कृषिदास या भिखारी हो जाते थे। लगातार अकालों से देश क्षत-विक्षत था। देश के विशाल ग्राम्यफलक की तसवीर यही थी। अकाल, बेरोजगारी और बेदखली की वजह से किसान और भिखारी दुबले शरीर के (कृसगात) रोटी के लिए बिलबिलाते (ललात) फिरते थे।"[1]

इस प्रकार अपने ग्रंथ में मेघ तुलसी के समकालीन पीड़ित एवं दुखद समाज का यथातथ्य वर्णन पूरे विस्तार के साथ "कवितावली," "विनयपत्रिका," "दोहावली," "मानस," आदि रचनाओं से उदाहरणों सहित प्रस्तुत करते हैं। तुलसी की संवेदनशीलता को गहराई से उभार कर मेघ तुलसी के एक विशिष्ट सामाजिक रूप एवं उनकी मध्यकालीनता बोध को स्पष्ट करते हैं।

मध्यकालीन परीस्थीतियाँ कृषक, व्यापारी, शिल्पी एवं

---

1. डॉ. रमेशकुंतल मेघ : "तुलसी आधुनिक वातायन से" पृ. 85

मज़दूर वर्गों के उदित होने की रहीं और ये ही परिस्थितियाँ इनके शोषक भी रहीं अर्थात् यही वर्ग पीड़ित वर्ग भी थे। ये वर्ग भक्त-कवियों की अपने प्रति निस्वार्थपूर्ण सहानुभूति से परिचित होकर, भक्ति-आंदोलन की ओर मुड़ते हैं और उस आंदोलन में शामिल होकर सामाजिक अत्याचारों से लड़ने और समाज में अपना स्तर ऊँचा उठाने की आशा एवं स्वार्थ रखते हैं, जो भक्ति-आंदोलन के विकास पाने का ज़रिया बना।

डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय के विचार भी इस दिशा में महत्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार "समाज के आर्थिक आधार के बदलने के कारण समाज के विभिन्न वर्गों के संबंध और संतुलन में परिवर्तन होता है। जातीय निर्माण की प्रक्रिया के आरंभ के इस काल में किसान, शिल्पकार और व्यापारी वर्ग का प्रभुत्व बढ़ता है। समाज के आर्थिक आधार और उत्पादन संबंधों में परिवर्तन के कारण विचारधारात्मक रूपों में परिवर्तन होता है, संस्कृति, कला और साहित्य के नये विकास की संभावना बनती है। नये आर्थिक विकास और बदले हुए सामाजिक संबंधों के कारण जिन वर्गों का प्रभाव बढ़ता है, संस्कृति, कला और साहित्य में भी उनकी भूमिका महत्वपूर्ण हो जाती है।"[1]

यही कारण है कि मध्यकाल में आर्थिक आधार में परिवर्तन साहित्य में भी परिवर्तन पैदा करती है। उससे पहले आदिकाल में

---

1. मैनेजर पाण्डेय : "भक्ति-आंदोलन और सूरदास का काव्य", (प्रथम संस्करण की भूमिका से उद्धृत)

रचनाएँ वीरगाथात्मक हुआ करती थीं, सामंत राजाओं का गुण-गान ही कवियों का लक्ष्य हुआ करता था, और सामंती राजाओं के युद्धों से संबंधित वीर रचनाएँ ही किया करते थे। जैसे ही, भारत पर तुर्कों के आक्रमण से उनके द्वारा भारत में शासन कायम करने के बाद, व्यापार में बढ़ोत्तरी हुई और आर्थिक परिस्थितियों में भी उल्लेखनीय परिवर्तन हो गये। सिक्कों के चलन के कारण, सामंती-व्यवस्था में भी परिवर्तन हो गया। और तो और ये सामंती राजा, प्रजा का ही शोषण कर रहे थे। ये सारी परि-स्थितियाँ साहित्य के वस्तुपक्ष पर भी अपना प्रभाव डालती हैं।

<u>राजनीतिक परिस्थितियाँ:-</u>

भक्ति-आंदोलन के विकास पाने में महाराष्ट्र के सन्तों के योगदान का उल्लेख करते हुए मुक्तिबोध कहते हैं कि "ग्यारहवीं सदी से महाराष्ट्र की गरीब जनता में भक्ति-आंदोलन का प्रभाव अत्यधिक हुआ। राज-नीतिक दृष्टि से, यह जनता हिन्दू-मुस्लिम दोनों प्रकार के सामंती उच्चवर्गियों से पीड़ित रही। संतों की व्यापक मानवतावादी वाणी ने उन्हें बल दिया। कीर्तन-गायन ने उनके जीवन में रस संचार किया। ज्ञानेश्वर, तुकाराम आदि सन्तों ने गरीब किसान और अन्य जनता का मार्ग प्रशस्त किया।"[1]

---

1. मुक्तिबोध : "नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध" पृ. 87

मध्ययुग में ह्रासोन्मुखी सामंती व्यवस्था के चलते जनता को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। इस युग में उन्हें हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रकार के सामंतों से जूझना पड़ा। आगे लेखक मुक्तिबोध का कहना है कि इसी युग में महाराष्ट्र राजनीतिक रूप में जन्म पाया था। शिवाजी के अनुयायी छापेमार योद्धा नीचे तबके के थे, जो अत्यंत शोषण के शिकार थे। तदुपरांत ब्राह्मणों के हाथ सत्ता पहुँची थी। मगर सामंतवाद जैसा का वैसा ही था।

मध्ययुग रामचन्द्र शुक्ल के काल विभाजन के अनुसार सन् 1375 से 1700 तक है। इसका साहित्यिक नाम भक्तिकाल दिया गया है। इस युग में मुस्लिम-साम्राज्य की स्थापना भारत में हो चुकी थी। विशेषकर उत्तर भारत में विशाल साम्राज्य स्थापित हुआ था। राजनीतिक रूप में देखा जाय तो व्यवस्था वही सामंतिक व्यवस्था रही। परन्तु यहाँ विशेषता यही थी कि मुसलमान सामंत भी थे और हिन्दू सामंत भी थे। उसी तरह शोषित जनता में हिन्दूऔर मुसलमान दोनों थे। इसलिए यहाँ वर्ग, धर्म के नाम पर न होकर स्थिति के स्तर पर विभाजित थे जैसे, सामंती वर्ग, शोषित वर्ग। जहाँ वर्ग होते हैं वहाँ संघर्ष भी होते हैं। वही वर्ग-संघर्ष इन दोनों वर्गों के बीच रहा। शोषित वर्ग अपनी बेहतर स्थिति के लिए उच्च वर्ग से संघर्ष करता रहा। यही कारण है कि साधारण जनता में धर्म के नाम पर आपस में कोई वैमनस्य, कोई टकराव नहीं थे।

शासक वर्ग का कर-विधान जनता के लिए घातक सिद्ध हुआ था, जैसे मुगल शासन में जागीरदारी विधान हैं। इस जागीरदारी विधान के अनुसार सम्राट अपने शासन में सुविधा के लिए अपने अनुयायियों को "जागीर" दिया करता था और उन जागीरों पर अधिकारियों को सर्वाधिकार भी दिये जाते थे। यहीं पर बात ख़तम नहीं होती है, इन जागीरदारों के तबादले भी हुआ करते थे, यहीं से आम जनता की कठिनाइयाँ शुरु होती है। जागीरदार अपने तबादले होने के डर से समय से पहले ही लोगों से कर वसूलते थे। इस प्रकार जनता का दुहरा शोषण होता था। ये सारी प्रशासनिक परिस्थितियाँ भी जनता को अपने हक़ के लिए लड़ने को बाध्य करती हैं।

डॉ॰ रांगेयराघव मध्ययुग की राजनीतिक परिस्थितियों को इस प्रकार बताते हैं, "12 वीं शती के अंत से 15 वीं शती तक के समय में मुस्लिम शासक भारत में जम गये। ब्राह्मणवाद के अत्याचार से शोषित अनेक जातियाँ इस्लाम की गोद में चली गयीं। इस्लाम के नाम पर इस पूरे युग में मुस्लिम पुरोहित वर्ग और मुस्लिम शासक वर्ग ने एकता करके अपने तीसरे वर्ग को लूट से पामाल रखा। शासक वर्ग पुरोहित वर्ग पर इतना निर्भर था कि ख़लीफ़ा से ख़िताब माँगता था, ख़लीफ़ा को रिश्वत देकर पद ख़रीदता था। राज्य की आर्थिक व्यवस्था का आधार लूट और जज़िया था, जिसको राजनीति

का रूप था जेहाद। भारतीय जनता पर भीषण अत्याचार किये गये। भारतीय सामंत वर्ग निरंतर युद्ध करता रहा। कुचला जाता रहा। इस युग में निर्गुण संप्रदायों के कवि हुए।"[1]

राज्य की आर्थिक व्यवस्था का आधार जज़िया और लूट था। इस तरह प्रजा को पीड़ित कर, लूट कर राज्य अपना आर्थिक सुधार करता था और कभी कभी तो वह युद्ध द्वारा भी दूसरे छोटे राज्यों को लूटता था। इस लूट की वजह से और इन युद्धों की वजह से जनता पर और अधिक भार बढ़ता जाता था।

मुगलों के शासन से पूर्व भारत में लोदी वंश का शासन था। इसी समय में कबीर जैसे निर्गुण भक्त का सामाजिक अत्याचारों के विरोधी के रूप में आगमन हुआ। पश्चात् भारत में मुगलों के शासन से राजनीतिक परिवर्तन भी हुए, राँगेयराघव के शब्दों में, "बाबर मुगल ने सत्ता हासिल की। मुगल शासकों ने भारत में राज्य क़ायम किया, मुस्लिम पुरोहित वर्ग की सहायता से नहीं, तलवार के बल पर, हिन्दू सामंतों की पारस्परिक स्पर्धा का लाभ उठाकर उन्होंने हिन्दू सामंतों को मित्रता में बाँधना शुरु किया।"[2]

इस कथन से मालूम होता है कि मुगलों का मुख्य उद्देश्य पूरे भारत में अपना साम्राज्य फैलाना था, अपना धर्म नहीं। इसी

---

1. डॉ. राँगेयराघव : "राँगेयराघव ग्रंथावली" - 10 पृ. 209
2. वही, पृ. 211

कारण इस युग में भक्ति-आंदोलन के ज़ोर पकड़ने में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई थी।

धार्मिक परिस्थितियाँ :-

मध्यकालीन धार्मिक परिस्थिति की उस चरम स्थिति के पीछे एक लंबी भारतीय धार्मिक परंपरा है, जिसका गहराई से अध्ययन करना ज़रूरी था। यह इसलिये कि परंपरागत धार्मिक गतिविधियों से ही समकालीन धार्मिक परिस्थिति के विकास को जाना जा सकता है।

डॉ॰ रतिभानुसिंह नाहर ने भक्ति के उद्भव-क्रम को वेदों, उपनिषदों, महाभारत, रामायण से बताते हुए गीता से भक्ति के महत्व की पहचान सिद्ध करते हैं।

परन्तु मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन पर इस परंपरागत भक्ति-भावना का प्रभाव होते हुए भी मध्यकालीन सामाजिक परिस्थितियों का उस पर अधिक असर हुआ। इसीलिए मध्यकाल में भक्ति, परंपरागत भक्ति से अलग अपनी एक रूपता लिए हुए थी।

लेखक "नाहर" के अनुसार " दोनों महाकाव्यों से भी अधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ "गीता" है जिसमें कर्म, ज्ञान तथा भक्ति में से भक्ति - मार्ग को न केवल महत्व प्रदान किया प्रत्युत इसकी सुदृढ़ स्थापना

करते हुए सगुण भक्ति को बढ़ावा दिया। "गीता" में भक्तों के आराध्य देव का स्वरूप भी निश्चित किया गया और यहाँ भक्तों के लौकिक एवं पारलौकिक जीवन का नियमन किया गया। भक्ति की लगभग सभी विधियाँ परवर्ती ग्रंथकारों को विशेषतया पुराणकारों को गीता से ही उपलब्ध हुयी हैं।"[1] आगे लेखक पुराणों की विशिष्टता का विवेचन करते हुए "भागवत पुराण" की सर्वाधिक महत्ता प्रतिपादित करते हैं। यथा, "मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन तथा विभिन्न वैष्णव संप्रदायों का मूल हम सरलतापूर्वक वैष्णव पुराणों में खोज सकते हैं और "भागवत पुराण" की प्रतिध्वनि तो हम मध्यकालीन भक्ति साहित्य में स्पष्टतया प्राप्त कर सकते हैं।"[2]

परंपरागत रूप में भक्ति के विकास को इसमें हम देख सकते हैं।

दक्षिण भारत में भक्ति को आलवार संतों ने प्रसार किया। पश्चात् भागवत धर्म की पुनः स्थापना होती है। "इसी युग में भागवत धर्म चार प्रमुख संप्रदायों में विभक्त हो जाता है······ 1· रामानुज का श्री संप्रदाय 2· निम्बार्काचार्य का सनक संप्रदाय 3· मध्वाचार्य का ब्रह्म संप्रदाय तथा 4· वल्लभाचार्य का रूद्र संप्रदाय। स्वामी रामानंद ने रामावत संप्रदाय की स्थापना करके

1· डॉ· रतिभानुसिंह नाहर : "भक्ति-आंदोलन का अध्ययन," पृ· 360

2· वही, पृ36।

प्राचीन रामोपासना को सर्वप्रथम सॉम्प्रदायिक रूप प्रदान किया। इन संप्रदायों के विकास के लिए वातावरण भी बहुत उपयुक्त रहा। यद्यपि पूर्व मध्यकाल एवं मध्यकाल ‡तुर्क-अफगान काल तथा मुगलकाल में‡ में से प्रथम युग में तो तुर्क-अफगानों की धार्मिक असहिष्णुता ने आर्थिक शोषण एवं राजनीतिक उत्पीड़न को जन्म दिया था और द्वितीय युग के कुछ परवर्ती मुगल बादशाह धर्म असहिष्णु ही सिद्ध हुए तथापि गिरते हुए मंदिरों तथा टूटती हुई मूर्तियों के प्रति आकर्षण और अधिक बढ़ गया।"[1]

लेखक द्वारा बताये गये ये चारों संप्रदाय क्रमशः विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत के दार्शनिक नामों से विख्यात हैं। इन आचार्यों की शिष्य परंपरा ने भक्ति-भावना को जन-जन तक पहुँचाने में अपना पूरा सहयोग दिया। यहीं से सगुण भक्ति का विकास होता है, जो अवतारवाद पर आधारित है। राम और कृष्ण को विष्णु के अवतारों के रूप में मानकर उनके लोकरक्षक एवं लोकरंजक रूप का इतना प्रसार किया गया कि साधारण जनता को इसकी ओर आकर्षित करने का इससे बड़ा तरीका कोई दूसरा नहीं हो सकता था। इस प्रकार धर्म या भक्तिमार्ग का फैलाव जन-साधारण तक बड़ी आसानी से हो गया था।

दक्षिण में भक्ति-आंदोलन दो दिशाओं में बढ़ता है, एक वैष्णव भक्तिधारा, दूसरा शैव भक्तिधारा। वैष्णव भक्त आलवार माने

---

1. डॉ. रतिभानुसिंह नाहर :"भक्ति-आंदोलन का अध्ययन" पृ. 361-62

जाते थे तथा शैवभक्त नयनार। भक्ति के प्रसार में आलवार संतों का योगदान उल्लेखनीय है ही, साथ ही "भागवत पुराण" का संस्कृत से अनेक अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया जाना, वैष्णव भक्ति-आंदोलन के प्रसार के लिए एक महत्वपूर्ण उपलब्धि सिद्ध होता है। रामानंद का रामावत संप्रदाय की स्थापना तथा रामोपासना की श्रेष्ठता का बखान एक और विचारणीय तथ्य है।

भक्ति के प्रसार में मंदिरों का भी स्थान था। 8 वीं शती में धर्म मंदिरों के इर्द-गिर्द मंडराता रहा और मंदिरों के आधार पर ही सत्ताधारी वर्ग का प्रभुत्व निर्भर हुआ करता था। मंदिर के देवी-देवता के समान ही सामंत राजा या सम्राट भी जन साधारण के लिए श्रद्धा के भाजन थे। इन राजाओं के महलों एवं मंदिरों के निर्माण में भी समानताएँ दृष्टिगोचर होती थीं।

भक्ति-आंदोलन के दक्षिण भारत से उत्तर भारत के प्रसार को माननेवालों में मुक्तिबोध एक है। उनके अनुसार, "भक्ति-आंदोलन दक्षिण भारत से आया। समाज की धर्मशास्त्रवादी, वेद, उपनिषद-वादी शक्तियों ने उसे प्रस्तुत नहीं किया, वरन् आलवार संतों ने और उनके प्रभाव में रहनेवाले जन-साधारण ने उसका प्रसार किया।"[1]

अब तक हम देखते आये हैं कि मध्ययुग में भक्ति का विकास एक

---

1. मुक्तिबोध : "नयी कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध" पृ. 87

व्यापक भक्ति-आंदोलन के रूप में किस प्रकार हुआ है। यहाँ पर डॉ॰ रामविलास शर्मा के विचार भी उल्लेखनीय हैं - "हिन्दू और तुर्कों का दुहरा उत्पीड़न सहती हुई भारतीय जनता के हृदय की अमिट सुकुमार भावनाएँ ही यहाँ प्रकट हुई थीं; किसी अगोचर ब्रह्म के अलौकिक गुण नहीं।"[1]

मतलब, पीड़ित जनता के लिए अपने हृदय के भार को प्रकट करने के लिए कोई आधार आवश्यक था, इसीलिए वे एक अलौकिक ब्रह्म को कल्पना कर लिये थे, जो किसी भी हालत में उनका हानिकारक नहीं था, बल्कि उनका पालनहार ही था।

यही कारण है कि जनता अपने कोमल भावों को कोमल शैली में ही प्रस्तुत करती है, जैसे कि कीर्तन, गायन एवं पदशैली आदि। और इसकेलिए वह अपनी बोलचाल की भाषा का ही प्रयोग करती है ताकि वह सर्वसाधारण के पहुँच में हो। इसी कारण धर्म या भक्ति मार्ग सामान्य मनुष्य के लिए भी सुलभ था और राम एवं कृष्ण जैसे अलौकिक पुरुष मनुष्य के अवतार में, मनुष्य के मित्र बनकर संचार करते थे। यह अवतारवाद समाज में निम्न माने जानेवाले वर्ग को अपनी वास्तविकता को पहचानने में मददगार था और यही संदेश मिलता है कि ईश्वर के सामने कोई छोटा बड़ा नहीं है। वहाँ

---

1. डॉ॰ रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन" पृ॰ 50

पर केवल भक्त-अभक्त का ही भेद है।

दक्षिण के आलवारों ने विशेषकर नम्मालवार , जो जाति के शूद्र थे, समाज में जाति-व्यवस्था के विरोध में आवाज़ उठाई थी। महाराष्ट्र में नामदेव, तुकाराम आदि संतों ने तथा उत्तर भारत में कबीर, रैदास, आदि निर्गुण संतों ने भी इसी घृणास्पद जाति-व्यवस्था जो मानवता के विरोध में पड़ती है, का डट कर विरोध किया। इसके लिए उन्होंने एकेश्वरवादी आंदोलन की स्थापना की।

साहित्यिक, साँस्कृतिक परिस्थितियाँ :-

मध्यकालीन समाज में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के अध्ययन के पश्चात्, साहित्यिक, साँस्कृतिक परिस्थितियों को परखना भी ज़रूरी है, जो साहित्यिक क्षेत्र में विशेष परिवर्तन ले आते हैं।

हमने देखा है कि मध्यकाल उत्तर सामंती व्यवस्था का काल रहा। इस काल में साहित्य में "भक्ति-भावना" एक व्यापक जन-आंदोलन का रूप लेती है। इस "भक्ति-भावना" की अभिव्यक्ति का माध्यम "जन-भाषा" है, जो पूर्ववर्ती साहित्यिक भाषाओं (संस्कृत, फारसी, अपभ्रंश) से भिन्न है। पूर्ववर्ती एवं समानांतर साहित्यिक प्रवृत्तियाँ "वीरगाथात्मक" रही थीं, जो मध्यकाल में

"भक्ति-भावना" एक विशेष अंदाज़ में, व्यापक जन-आंदोलन का रूप ले लेने के कारण, इन अन्य श्रृंगार एवं वीर काव्यों की तीव्रता मद्धिम पड़ गयी थी।

डॉ. रामविलास शर्मा मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन के उद्‌भव में साँस्कृतिक परिस्थितियों की भूमिका को बताते हैं। वे इस आंदोलन को हिन्दू जनता में मुसलमान आक्रमणों से उत्पन्न निराशा से उद्‌भूत होने की बात का खण्डन करते हैं, और इसका आरंभ दक्षिण से मानते हैं जहाँ मुसलमानों का आक्रमण उस समय तक अर्थात् 8 वीं, 9 वीं शताब्दी तक नहीं था। उन्होंने यह भी बताया है कि यह आन्दोलन भारत के बाहर यूरोप के देशों में भी था। इस प्रकार वे भक्ति के विश्व व्यापक रूप के कारणों को बताते हुए कहते हैं कि "इसका कारण विभिन्न देशों में एक-सी समाज-व्यवस्था की सामान्य परिस्थितियाँ हैं। इस सामंत व्यवस्था में समाज का मुख्य वर्ग भूमिपतियों का होता है। धर्म-संस्कृति और शिक्षा आदि का कार्य पुरोहित वर्ग के हाथ में रहता है। इस समाज-व्यवस्था में धर्म और संस्कृति, कर्मकाण्ड से बँध जाते हैं। धर्म की साधना के लिए भी द्रव्य आवश्यक होता है। श्रम करनेवाली जनता को दबाकर रखने के लिए पुरोहित वर्ग नरक का भय दिखाता है। यूरोप में धार्मिक कार्यों का माध्यम लैटिन थी और भारत में संस्कृत। इन भाषाओं को मध्यकाल में कुछ थोड़े से पढ़े लिखे ही समझते थे। इन

परिस्थीतियों में भक्ति-आंदोलन का जन्म हुआ। यह संपत्तिशाली वर्ग का आंदोलन न था। इसका नेतृत्व उन लोगों ने किया जिन्होंने संस्कृत की जगह भारतीय भाषाओं और लैटिन की जगह यूरोपीय भाषाओं को प्रतिष्ठित किया। इस आंदोलन में उच्च वर्णों के अलावा निम्न वर्णों के लोग भी आये और इस तरह धर्म और संस्कृति पर पुरोहित वर्ग का एकाधिकार टूट गया।"[1]

इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि निम्न वर्णों का भी उच्चवर्णों के समान ही इस आंदोलन पर अधिकार था और जनभाषा निम्न वर्णों के अनुकूल थी। पुरोहित वर्ग की पाखण्डता को इन्हीं निम्न वर्गों एवं वर्णों के लोगों ने समाज के समक्ष खोल कर रख दिया।

धर्म अब किसी एक वर्ण व वर्ग का धरोहर नहीं रह गया। उस पर सभी जातियों एवं वर्णों का एक समान अधिकार हो गया था। धार्मिक क्षेत्र की "भक्ति" जो मध्यकाल की केन्द्रीय विचारधारा थी, पर से पुरोहितों का एकाधिपत्य समाप्त हो जाना, एक प्रकार से साँस्कृतिक विकास के लिए स्वागत बोलने का कार्य था।

मध्यकालीन सामंती समाज का मध्यकालीन काव्य एवं संस्कृति पर प्रभाव को डॉ॰ प्रेमशंकर इस प्रकार बताते हैं, "मध्यकालीन सामंती समाज की चर्चा इसलिए आवश्यक है कि वह समाज का मूल

1· डॉ॰ रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन" पृ॰ 68

ढाँचा है और उसने रचना पर अपने निश्चित दबाव छोड़े हैं।.... मध्यकालीन काव्य में समाज-संस्कृति के जो दृश्य बिंबित हुए हैं, उन्हें इस सामंती परिवेश से अलगाकर नहीं देखा परखा जा सकता। हमारे काव्य की पृष्ठभूमि में सल्तनतकाल है तथा उसका सर्वोत्तम मुगलकाल के दौर से गुजरता है और इतिहास-समाज के दबाव - उस पर अपनी निश्चित छाया छोड़ते हैं।... सल्तनतकाल में प्रादेशिक भाषाओं को जो सामंती प्रोत्साहन मिला उससे भी भक्तिकाव्य को गति मिली।"[1]

मध्यकालीन सामंती समाज की काव्य में अभिव्यक्ति, प्रादेशिक भाषाओं का चलन आदि मध्यकालीन संस्कृति के विशेष अभिव्यक्ति के माध्यम रहे। इसीलिए हमें मध्यकालीन काव्य में लोकजीवन की संपूर्ण झाँकियाँ देखने को मिलती हैं। भक्त-कवियों की साँस्कृतिक सामाजिक चेतना कितनी सजग थी, इसका सर्वोत्तम उदाहरण उनका काव्य है।

कबीर, दादू, रैदास, नानक, जायसी आदि एकेश्वरवादी निर्गुण भक्तों की विद्रोही वाणी में समकालीन समाज के अनेक अत्याचारों का वर्णन और उनका खण्डन प्रखर शब्दों में सुनाई पड़ता है तो सूर, तुलसी आदि सगुण भक्तों की सामाजिक जागरूकता एवं सामाजिक

---

1. डॉ. प्रेमशंकर : "भक्तिकाव्य की सामाजिक, साँस्कृतिक चेतना" पृ. 67

चेतना, समन्वय के रूप में प्रकट होकर सामान्यजन को उकसाती हैं और जागृत करती हैं। अंतत: यह सब क्रिया-कलाप भक्ति को एक महत् आंदोलन का रूप धारण कराने में सहायक रहे।

समाज में स्थित ब्राह्मण-शूद्र के घोर अंतर के कारण कबीर कितना भड़क उठते हैं, निम्न पंक्तियों में बखूब देख सकते हैं --

"जे तूं ब्राह्मण ब्राह्मणी जाइआ
तउ आन बाट काहे नहीं आइआ
तुम कत ब्राह्मण हम कत सूद
हम कत लोह तुम कत दूध।।"[1]

ब्राह्मणों के अपने वर्ण को श्रेष्ठ मानकर घमण्ड करने की प्रवृत्ति को ललकारते हुए कबीर प्रश्न करते हैं कि, क्यों नहीं तुम किसी दूसरे रास्ते से जन्म लेते हो, तुम भी आम आदमी की तरह ही जन्म रहे हो। आगे ब्राह्मणों से यह भी पूछते हैं कि उनमें और शूद्र में क्या अंतर है ? दोनों में खून ही तो बहता है। अर्थात् कबीर का संदेश यह है कि आदमी जन्म से नहीं कर्म से बड़ा होता है।

समाज में श्राद्ध कर्म के नाम पर होनेवाले कुकर्म भी बहुत ही थे।

---

1. श्री गुरुग्रंथ साहब : - 2, पृ. 111

मनुष्य को चाहे अपने जीवनकाल में अपने पुत्रों, भाई-बंधुओं का सहारा न मिला हो, पर उसके मृत्योपरांत उसका श्राद्ध कर्म किया जाता है। इस सामाजिक कर्मकाण्डी बाह्याचार के प्रति कबीर का व्यंग्य इतना तीखा है कि वे सीधे श्राद्ध भोजन को निरर्थक बताते हुए उसे कौए, कुत्ते खा जाने की बात करके उसकी झूठी अहमियत को पूरी तरह से नकार देते हैं --

" जीवत पितर न मानै कोऊ मूएं सिराध कराही।
पितर भी बपुरे कहु किउ पावहि कऊआ कूकर खाही।।"[1]

कबीर का इस प्रकार तीखा व्यंग्य करने का मक्सद यही रहा कि समाज में पारिवारिक संबंध न बिखरे। उनकी चाहत है कि परिवार में बूढ़े माता-पिता का आदर हो और उनकी सेवा-सत्कार हो। जो औलाद का कर्तव्य है, उसे याद दिलाते हैं; परन्तु कटुवाणी में बताते हैं।

दादू निर्गुण निराकार ब्रह्म का प्रचार करते हुए, एक ही निराकार ब्रह्म के अस्तित्व पर बल देते हैं। दादू के हिन्दू-मुसलमान-एकता की भावना को बताते हुए सावित्रीचन्द्र शोभा का कथन है, "सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संत दादूदयाल ने हिन्दुओं और तुर्कों की धार्मिक और जातिगत आपसी वैमनस्य रखने के कारण गँवार और अज्ञानी कहकर संबोधित किया है तथा दोनों को ब्रह्म की एकता में विश्वास कर, भिन्नत्व की भावना को त्यागने की

1· श्री गुरुग्रंथ साहब - 2 कबीर पृ· 138-139

मंत्रणा दी है।"[1] लेखिका ने इसके लिए दादू का यह दोहा उदहरित किया है --

"दादू दोन्यों भरम हैं हिन्दू तुरक गँवार।
जैसे दुहुवों ते रहित है, सो गह तत्त्व विचार।।"[2]

समकालीनता से सजग निर्गुण एवं सगुण भक्त, अपनी चेतना बनाने में सफल होते हैं। इसी प्रयत्न में समकालीन सामाजिक स्थितियों का वर्णन अपी रचनाओं में करते हुए, साधारण जनता को इसकी ओर आकृष्ट करते हैं। भक्ति-मार्ग पर चलते हुए ही वे भक्त, सामाजिक सुधार एवं सामाजिक चेतना को जागृत करने में कोई कसर नहीं रखते हैं। मार्क्सवादी आलोचकों ने भक्तकवियों की इसी सामाजिक चेतना को, भक्ति-आंदोलन का भौतिक आधार माना है, जो सही है। भौतिक जीवन को भी और आध्यात्मिक जीवन को भी सुख पूर्वक रखने का मार्ग भक्त कवि दिखाने का प्रयत्न करते हैं, वे केवल आध्यात्मिक चिंतन की बात नहीं करते हैं।

दादू दयाल की ही बात ले, तो वे एक भक्त कवि के रूप में मशहूर हैं। परन्तु उनके अनेक ऐसे दोहे हैं, जो सामाजिक अन्यायों के खिलाफ जाते हैं और समकालीनता-बोध देते हैं -

---

1. सावित्री चन्द्र शोभा : "आलोचना" जनवरी/मार्च 79, पृ. 79
2. परशुराम चतुर्वेदी : "दादू दयाल" 13/111

"झूठा कलियुग कह्या न जाई, अमृत कौ विष कहे बनाई।
धनकूं निर्धन निर्धन कूं धन, नीति अनीति पुकारे।।"[1]

कलियुग की इन विषम परिस्थितियों को तुलसी ने भी बहुत अधिक अपने काव्य में स्थान दिया था। कलियुग की विशेषता यह रही है कि वह अमृत को विष और विष को अमृत साबित करता है और निर्धन को धनी, धनवान को निर्धन तथा नीति को अनीति मानता है। अर्थात् समाज घोर अराजकता की स्थिति में रहता है। तुलसी का कलियुग ऐसा है कि —

"असुभ वेष भूषन धरे भक्षाभक्ष जेखाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूजित कलियुग माहिं।।"[2]

जो बेहूदा वेष धारण करता है और भक्ष्याभक्ष्य को खाता है उसे ही कलियुग में मनुष्य योगी एवं सिद्ध मानकर पूजता है। इन सब विकृत परिस्थितियों को वे भक्त कवि अपनेअनुभव द्वारा पहचानते हैं और इस प्रकार की विकृतियों को दूर करने का उपदेश देते हैं ताकि सामाजिक सन्तुलन बना रहे।

रमेशकुंतल मेघ, रामविलास शर्मा, मैनेजर पाण्डेय, शिवकुमार मिश्र आदि उच्चकोटि के मार्क्सवादी विचारक भक्ति-काव्य की इन

---

1. परशुराम चतुर्वेदी : "दादू दयाल" पृ. 386
2. तुलसी ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, 'मानस' सप्तमसोपान, पृ. 458.
संपादक : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

सारी विशेषताओं का विश्लेषण अत्यंत गहराई से करते हैं। भक्ति-आंदोलन के उद्भव के कारणों में इन भक्त कवियों की वाणी को मूल प्रेरणास्रोत मानते हैं। इनकी वाणी की तीव्रता व तर्कपूर्णता का इन विचारकों ने विवेचन, विश्लेषण बहु जागरूकता से किया है।

मध्यकालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ ही ऐसी थी कि साहित्य-जगत इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। इन विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में, भक्त कवियों की सामाजिक जागरूकता ही थी जो भक्ति-आंदोलन को व्यापक बनाती है और जन-साधारण को बड़े पैमाने में प्रभावित करती है।

जैसे रमेशकुंतल मेघ ने बताया है कि तुलसीदास पारिवारिक संबंधों एवं रिश्तों को काव्य में स्थान देकर, भक्ति-भावना का पारिवारिक संबंधों से अभिन्नता को सिद्ध करते हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ "तुलसी : आधुनिक वातायन से" के पृष्ठ संख्या 87 से 90 तक के पन्नों में तुलसी के पारिवारिक संबंधों एवं आदर्श रिश्तों का विवेचन किया है। गुरु शिष्यों, माता-पिता, भाई-बहन, माता-पुत्र, सास-बहू, भाभी-देवर, मित्र-मित्र, स्वामी-सेवक आदि-आदि अनेक रिश्तों के आदर्श संबंधों का तुलसी काव्य में सुंदर एवं विशद चित्रण हुआ है।

तुलसी की ये पंक्तियाँ इस दिशा में विचारणीय हैं --

"राम मातु पितु बंधु सुजन गुरु पूज्य परम हित।
साहेब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित।।"[1]

आशय यह है कि यहाँ भक्ति परिवार से जुड़ी हुई है, जैसे "राम" में सभी रिश्तों को देखना, गृहस्थ जीवन की आवश्यकता की ओर इशारा है। राम स्वयं एक आदर्श गृहस्थ थे और वे सुखी समाज की आशा एवं चाहत रखते हैं। इसके लिए योगी, संन्यासी बनने की जरूरत नहीं है, बाह्य वेष-भूषा की आवश्यकता नहीं है, और दिखावे को यहाँ सख्त मनाही है।

भक्ति के लिए इस प्रकार की सामाजिक प्रेरणा ही बहुत थी जो भक्ति-आंदोलन के उद्भव और त्वरित विकास के लिए दी गयी थी।

निष्कर्ष:-

भक्ति-आंदोलन को धार्मिक आंदोलन के अलावा भी कुछ और विशेष मान्यता होने का कारण यह है कि वह मात्र धार्मिक धरातल तक ही अपने आप को सीमित नहीं रखा है। हाँ, कबीर, सूर, तुलसी आदि भक्तों ने अवश्य भक्ति की प्रतिष्ठा कर नाम-स्मरण

---

1. "तुलसी ग्रंथावली" (द्वितीय खण्ड) सं. रामचंद्र शुक्ल
"कवितावली", पद 110, पृ. 188

पर बल दिया था और मुक्ति की कामना भी की थी, साथ ही उन्होंने सामाजिक कुरीतियों के प्रति लड़ने की प्रेरणा भी दी और खुद विरोध किये थे।

यह आंदोलन जाति प्रथा के विरोध में था, सामंती-व्यवस्था के विरोध में था, शोषण के विरोध में था और नारी-मुक्ति की आकांक्षारत भी था। गिरते हुए सामाजिक मूल्यों की रक्षा करने की दिशा में यह आंदोलन अग्रसर था, निम्न जाति के सामाजिक स्तर को बढ़ाने में सहायक था।

धर्म-भेद, वर्ग-भेद, वर्ण-भेद, जाति-भेद, लिंग-भेद, छुआछूत के परे जाकर वह अपना विशेष अस्तित्व कायम करता है, साथ ही भेदभावों से युक्त समाज के सुधार की आकांक्षा व्यक्त करता हुआ, उसके उद्धार के लिए भरसक प्रयत्न करता है। इसीलिए यह आंदोलन अपने आध्यात्मिक धरातल से उठकर, जन-साधारण तक पहुँचता है और जन-साधारण का समर्थन पाकर जन-आंदोलन के रूप में उभरता है।

::::::::::::
::::::::::::

तृतीय अध्याय

भक्ति-आंदोलन का वैचारिक आधार

तृतीय अध्याय

भक्ति-आंदोलन का वैचारिक आधार

(क) विचारधारा

(ख) सामन्तवादी और ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण

(ग) सामन्त विरोधी और ब्राह्मण विरोधी दृष्टिकोण

(घ) सामाजिक द्वन्द्व

(च) लोकजीवन

निष्कर्ष

भक्ति-आंदोलन का वैचारिक आधार

विचार धारा :

भक्ति-आंदोलन के वैचारिक आधार से तात्पर्य यह है कि मध्यकालीन भक्ति-साहित्य की सृष्टि का मूल वैचारिक आधार क्या था ? अर्थात् वह कौन सी विचारधार थी जो मध्यकालीन समाज में साहित्य-रचना के लिए प्रेरित की और जो साहित्य में गहरे स्थान पा जाती है।

साहित्य की विचारधारा युगीन परिस्थितियों के अनुरूप ही होती है और युगीन परिस्थितियाँ विचारधारा में परिवर्तन का कारण बनती हैं। "भक्ति-भावना" स्वयं एक विचारधारा थी, और इस विचारधारा को समकालीनता से जोडकर मध्यकालीन साहित्य की रचना की गयी।

विचारधारा का साहित्य से संबंध को डॉ॰ शंभुनाथ इस प्रकार बताते हैं -- "विचारधारा और साहित्य सदा एक दूसरे के लिए अपरिहार्य हैं। विचारधारा साहित्य की रीढ़ तथा साहित्य विचारधारा का आत्मबल है। रीढ़विहीन साहित्य मेहनतकश जनता के भौतिक जीवन में अपना स्थान नहीं बना सकता, उसी प्रकार आत्मबलविहीन विचारधारा भी मेहनतकश जनता का बौद्धिक हथियार नहीं बन सकती।"[1]

---

1. डॉ॰ शंभुनाथ, "तीसरा यथार्थ", पृ॰ 54

शंभुनाथ जी ने ठीक ही कहा है कि विचारधारा और साहित्य का परस्पर संबंध है, दोनों के मेल से उत्पन्न साहित्य जन-साधारण के मन को जीतने का सामर्थ्य रखता है। इस प्रकार की विारधारा में सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करने की शक्ति होती है, जो भक्ति-आंदोलन की लोकप्रियता से विदित होता है।

मार्क्सवादी दृष्टि से किसी भी आंदोलन अथवा विचारधारा को परखने का आधार समकालीन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि है। मार्क्सवादियों के अनुसार साहित्य को समाजोपयोगी होना चाहिए और उसका मूल्यांकन भी उसी दृष्टि से किया जाना चाहिए।

मध्यकालीन सामाजिक परिस्थितियों को हमने पहले ही रेखांकित किया है कि यहाँ सामन्ती समाज व्यवस्था थी और ब्राह्मण आधिपत्य था। जाति-व्यवस्था की बुराइयाँ यहाँ अपने चरम स्थान पर पहुँच चुकी थीं और छुआछूत इस समाज की एक घोर दुस्थिति थी। इन युगीन अत्याचारी सामाजिक स्थितियों ही भक्त-कवियों को विचार दिये थे, जो उनकी रचनाओं में अलग-अलग अंदाज़ों में प्रकट होते हैं।

भक्ति-आंदोलन को भिन्न-भिन्न रूपों में देखनेवाले विचारकों के विचारों को हम चार रूपों में देखते हैं। एक तरह के विचारक वे हैं जो भक्ति को सामंती व्यवस्था तथा ब्राह्मणवादी व्यवस्था का

समर्थक तत्व मानते हैं दूसरे प्रकार के आलोचक वे हैं जो भक्ति को सामंत-विरोधी एवं ब्राह्मण आधिपत्य के विरोध में जानेवाला तत्व मानते हैं। तीसरे प्रकार के आलोचक इसमें दोनों प्रकार के रूपों अर्थात् सामंती समर्थक एवं विरोधी रूपों को देखते हैं, इसका कारण वे युगीन सामाजिक द्वन्द्व बताते हैं। चौथे प्रकार के आलोचक इसकी लोकप्रियता के कारणों को इसकी लोकजीवनपरक दृष्टि बताते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति-आंदोलन पर विचार करनेवाले भिन्न आलोचक भिन्न रूप में उसकी व्याख्या करते जाते हैं। आखिर मार्क्सवादी विचारकों में ही इतना मतभेद क्यों है ? परंतु विचारों में इतना मतभेद होते हुए भी लगभग सभी विद्वान एक स्थान पर सहमत होते हुए दिखाई देते हैं, वह है भक्ति-आंदोलन को किसी न किसी रूप में जन-आंदोलन के रूप में पहचानना।

यहाँ हम इन आलोचकों के विचारों को अलग-अलग रेखांकित करते हुए उनकी व्याख्याओं में स्थित भेद-भाव को स्पष्ट करेंगे।

सामंतवादी और ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण :-

भक्ति को सामंती व्यवस्था और ब्राह्मण आधिपत्य का समर्थक तत्व माननेवालों में डी॰ डी॰ कोसाम्बी, हरबंस मुखिया, सतीशचन्द्र जैसे इतिहासकार तथा मुक्तिबोध, रॉगेयराघव आदि आलोचक मुख्य हैं।

डी॰ डी॰ कोसाम्बी, जो प्रथम मार्क्सवादी इतिहासकार के रूप में जाने जाते हैं, भगवद्गीता की समीक्षा भौतिकवादी दृष्टि से करते हुए भक्ति की सामाजिक उपयोगिता को बताते हैं। गीता को लेखक असंगतियों से भरा हुआ ग्रंथ मानते हुए भी, भक्ति के औचित्य की दृष्टि से उसकी सराहना करते हैं। उन्हीं के शब्दों में --"किंतु गीता में एक नवीनता अवश्य थी और वह थी भक्ति, जो कि बाद में आनेवाले युग की आवश्यकताओं के हूबहू अनुरूप थी। इस ग्रंथ की रचना चाहे जिसने भी की हो, भक्ति का औचित्य उसके सामने था, क्योंकि यही एकमात्र ऐसा मार्ग है जिससे सब प्रकार की विचारधाराएँ एक ही दिव्य स्रोत से निकाली जा सकती हैं।"[1] आगे लेखक भक्ति को सामंतवाद का समर्थक तत्व बताते हुए कहते हैं -- "सामंतवादी विचारधारा में भक्ति का स्थान परम महत्व का था, क्योंकि यह उसकी आधारभूत आवश्यकता थी, फिर भी सबको इसके सुफल समान रूप से सुलभ नहीं थे। 12 वीं सदी आते आते, सामंतिक कराधान का भार कृषक वर्ग को बहुत ही अखरने लगा था क्यों कि उन्हें न केवल विलासप्रधान राजप्रासाद के लिए बल्कि उसी के प्रतिरूप और वैसे ही समृद्ध तथा कहीं अधिक अलंकृत मंदिर के लिए भी अपने गाढ़े पसीने की कमाई कर के रूप में देनी पड़ती थी। ब्राह्मणवाद निश्चित रूप से चोटी पर आ गया था।"[2]

1· डी·डी· कोसाम्बी : "मिथक और यथार्थ", पृ· 36

2· वही। पृ· 37

लेखक का आशय इसमें स्पष्ट है कि "भक्ति" ही एक ऐसी विचारधारा थी कि सामन्ती समाज में शोषण को न्यायोचित साबित कर सकती थी। वह संभव इस प्रकार से था कि भक्त का भगवान से स्वामी-सेवक संबंध की अवधारणा को सामंती राजा अपने और अपने सेवकों के बीच के संबंधों के रूप में बदल लेने में इसी भक्ति का सहारा लेते हैं और मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था में जातिप्रथा भी इसी की पुष्टि करती थी कि निम्न जातियाँ उच्च जातियों का सेवा-सत्कार करें।

लेखक का मंतव्य इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है कि "सामन्ती व्यवस्था में अनुजीवी को सरदार से असामी को मालिक से, और सामंत को सम्राट से बाँधे रखनेवाली निष्ठा भावनात्मक न होकर उत्पादन के साधन और संबंधों के रूप में, एक विश्वसनीय आधार बात थी।"[1]

इस प्रकार सामंती समाज व्यवस्था में प्रत्येक सामाजिक संबंध भौतिक आधार पर क़ायम रहते हैं, वे भावनात्मक नहीं होते हैं।

लीलापुरुष कृष्ण के प्रवचनों से भी इन्हीं भौतिक संबंधों का आभास मिलता है। कोसाम्बी गीता के कृष्ण के प्रवचनों में असामाजिक तत्वों को ही देखते हैं जो इस प्रकार हैं ---- "कर्तव्य का तक़ाज़ा हो तो मार डाल अपने भाई को, बिलकुल अनासक्त भाव से। जब तक मुझमें

---

1. डी॰डी॰ कोसाम्बी : "मिथक और यथार्थ", पृ॰ 36

तेरी निष्ठा है, तेरी सभी गुनाह माफ़ हैं।"[1]

अर्थात् भगवान कृष्ण पर भरोसा रखने मात्र से किसी भी प्रकार का अत्याचार जायज़ हो जाता है; क्योंकि उन पर भरोसा करने से सारी गुनाहों की माफ़ी हो जायेगी। भगवान कृष्ण को मानकर, उनको पूरी तरह से समर्पित हो जाना, एक तरह से सामन्ती व्यवस्था में सामंती राजा के प्रति समर्पण का भाव तथा उसी का गुलाम हो जाने का संकेत मिलता है।

लेखक के विचारों का सारांश यह है कि वे भक्ति को सामंतवाद की पुष्टि करनेवाला तत्व मानते हैं, साथ ही ईश्वर द्वारा निर्मित चातुर्वर्ण्य की स्थापना को उच्च वर्ग अपने स्वार्थों के लिए प्रयुक्त करने के कारण भक्ति में ब्राह्मणवाद की पुष्टि भी होती है।

यहाँ भक्ति का सामंती व्यवस्था का समर्थक रूप 12 वीं शताब्दी तक ही था। 12 वीं शताब्दी के बाद सामंती व्यवस्था में बढ़ते हुए कर भार से ग्रस्त कृषक वर्ग में चेतना जागृत हो गयी थी, जिसकी शुरूआत महाराष्ट्र में "महानुभाव-संप्रदाय" से होती है।

भक्ति-आंदोलन को सामंतवादी एवं ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण रखनेवाला आंदोलन माननेवालों में मुक्तिबोध एक और आलोचक

---

1. डी॰डी॰ कोसाम्बी : "मिथक और यथार्थ" , पृ॰ 22

हैं। उनके अनुसार निर्गुण संतों द्वारा किया गया जातिवाद विरोधी आँदोलन असफल हुआ था और इसका कारण बताते हुए वे कहते हैं कि "भारत में पुरानी सामंती रचना को समाप्त करनेवाली पूँजीवादी क्राँतिकारी शक्तियाँ उन दिनों विकसित नहीं हुई थी। ... तुलसीदास द्वारा वर्णाश्रम धर्म की पुन:स्थापना की घोषणा के कारण निम्न जातियों का भक्ति-आंदोलन पर जो अधिकार था वह समाप्त हो गया और इस पर ब्राह्मणवाद पूरी तरह छा गया।"[1]

तुलसीदास और सगुण भक्ति को वे वर्णाश्रम धर्म एवं ब्राह्मण आधिपत्य के समर्थक मानते हैं। इसी कारण उच्च वंशीय शासकों तथा सामंतों के अधिकार बढ़ गये। वे भक्ति को अपने अनुकूल बना लिये, और शोषण यथातथ्य जारी रहा।

सगुण भक्त, जैसे तुलसीदास, सूरदास आदि के जीवन-विधान,

---

1. मुक्तिबोध : "नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध", पृ. 92-93

जाति-व्यवस्था, सामाजिक स्तर आदि परिस्थितियाँ निर्गुण भक्तों से भिन्न प्रकार के थे। और निर्गुण भक्ति का उपासक रूप सगुण भक्तों के उपासक रूप से भिन्न है। इसलिए निर्गुण और सगुण भक्त अपने-अपने सामाजिक परिवेश तथा जीवन-विधान और लोक-जीवन से भिन्न भिन्न रूपों में प्रभावित होते हैं और उनकी रचनाओं में व्यक्त विचारों में भी अंतर रखना सहज ही है। परन्तु सारे सगुण-भक्त कोरे ब्राह्मणवादी भी नहीं हैं, वे कहीं कहीं अब्राह्मणवादी दृष्टिकोण भी रखते हैं।

तुलसीदास, जो वर्णाश्रम धर्म के समर्थक माने जाते हैं, "मानस" में कलिकाल वर्णन में वर्णाश्रम धर्म की महत्ता पर बल देते हैं, तो उसी "मानस" में वे समस्त जग को "राममय" बताकर उसकी वंदना करते हैं, जिसमें राम ही राम सर्वव्याप्त हैं, उस समय कोई-ऊँच नीच का भेद-भाव दिखाई नहीं देता। वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा —

"बरनाश्रम निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहि सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग।।"[1]

---

1. "तुलसी ग्रंथावली", -- सप्तम सोपान, पृ. 426
§ रामचन्द्र शुक्ल §

बरनाश्रम धर्म के अनुसार, जहाँ, चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) अपने-अपने धर्मों का पालन करें तो, वहाँ सुख सदा सदा के लिए रहेगा, किसी भी प्रकार का भय और शोक तथा रोग वहाँ नहीं भटकेंगे। इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा करते हुए भी तुलसी "भक्ति-धर्म" के अनुसार "भक्ति" में समस्त मनुष्य जाति को समान दर्जा देते हैं और जग को सीता राममय से व्याप्त बताकर सबकी वंदना करने को कहते हैं, ऐसे समय पर वे ऊँच-नीच का ध्यान नहीं देते हैं --

"जड चेतन जग (जीव) जन सकल राममय जानि।
बंदौ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि।।

x x x

आकर चारि लाख चौरासी।
जाति जीव जल थल नभ बासी।
सीय राममय सब जग जानी।
करौं प्रनाम जोरि जग पानी।।"[1]

1· सं· रामचन्द्र शुक्ल : "तुलसी ग्रंथावली, "मानस" प्रथम खण्ड, प्रथम सोपान पृ·7

रात दिन राम नाम स्मरण करनेवाला निम्न-जाति का होने पर भी आदर का योग्य होता है, जो हरि का नाम नहीं लेता है वह उच्च कुल का होने पर भी कोई फायदा नहीं है, वह अयोग्य ही होता है --

"तुलसी भगत सपच भलो, भजै रैन दिन राम।
ऊँचे कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम।।"[1]

मुक्तिबोध के कहे अनुसार सगुण भक्त कवि, विशेषकर तुलसीदास ब्राह्मण व्यवस्था के समर्थक के रूप में सामने आते हैं, परन्तु उन्हीं का दूसरा रूप जो मानवतावाद का संदेश देता है, वह वर्ण-जाति भेद से परे एक स्वच्छ भक्त रूप है। इसकी हमें उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

मुक्तिबोध इस आँदोलन का वैचारिक आधार जनता के कष्ट और दुःखों को बताते हैं। पीड़ित जनता के दुःखों

---

1. सं. रामचन्द्र शुक्ल : "तुलसी ग्रंथावली", द्वितीय खण्ड "वैराग्य संदीपनी", पृ. 12

को ही भक्त कवि अपनी रचनाओं में स्थान देते हैं, जो इस प्रकार है -- "भक्ति-आंदोलन का आविर्भाव एक ऐतिहासिक सामाजिक शक्ति के रूप में जनता के दुःखों और कष्टों से हुआ।"[1]

जनता के दुःखों और स्वयं अपने भी दुःखों से सजग भक्त कवियों की रचनाओं का सूत्रपात उनके अपने अनुभव ज्ञान से ही हुआ था, जो समाज-सापेक्ष हैं। इनके अनुभवों की गहराई और व्यापकता का ही फल था कि भक्ति-आंदोलन का विस्तार जन-जन में हो गया।

डॉ॰ सतीशचन्द्र, डॉ॰ हरबंसमुखिया, डॉ॰ रांगेयराघव आदि विद्वान भी इस आंदोलन को ब्राह्मणवाद और सामंतवाद के समर्थन में उद्भूत आंदोलन मानते हैं।

---

1. मुक्तिबोध : "नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध", पृ॰ 92

डॉ॰ सतीश चन्द्र ने उत्तर और दक्षिण के भक्ति-आंदोलन के अलग-अलग समयों पर उत्कर्ष पाने की बात की और इस बात की प्रमुखता पर हमारा ध्यान आकृष्ट कर लेते हैं। इन्होंने दोनों आंदोलनों के बीच के पाँच सौ वर्षों के अंतर के कारण भी बताये हैं। भक्ति-आंदोलन में ब्राह्मणों के आधिपत्य की बात करते हुए लेखक कहते हैं -- "दक्षिण का भक्ति-आंदोलन दसवीं सदी में अपने उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। इसके बाद यह धीरे-धीरे पारम्परिक हिन्दू-धर्म की लीक पर चलने लगा। क्योंकि इसने वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मणों की उच्चता और उसके कर्मकाण्ड को स्वीकार कर लिया।"[1]

दसवीं सदी के पश्चात् 14 वीं सदी से उत्तर भारत में कबीर, नामदेव, दादू, नानक आदि के एकेश्वरवादी आंदोलन के रूप में, पश्चात् 15 वीं व 16 वीं शताब्दियों में सगुण भक्ति-आंदोलन के रूप में विकास के बीच के इन चार-पाँच सौ वर्षों में भक्ति-आंदोलन का रूप धीमा पड़

---

1. डॉ॰ सतीश चन्द्र : "उत्तर भारत में भक्ति-आंदोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि" आलोचना, जनवरी/मार्च 1986॰ पृ॰ 16

गया था। समाज फिर से परम्परागत सामाजिक रीति-रिवाजों, वर्णाश्रम धर्मों, आदि संप्रदायों का पुन: पालन करने लगा। इसका मतलब यह हुआ कि इस आंदोलन के उच्च दशा में ही रूढियों का विरोध हुआ, जैसे ही आंदोलन धीमा पड जाता है, तब वे सुधार प्रयत्न भी धीमें पड जाते हैं, समाज पुन: पुरानी व्यवस्था की ओर लौट जाता है।

मध्यकाल में ब्राह्मण आधिपत्य के कारणों में लेखक राजपूतों की भूमिका को महत्त्व देते हैं। राजपूतों को अपने अधिकार एवं स्थान बनाये रखने के लिए ब्राह्मणों का समर्थन आवश्यक था। इसलिए जो समझौता ब्राह्मण और राजपूतों के बीच में किया गया था, उसने ब्राह्मणों को उच्च पद पर आसीन किया। लेखक के इस उद्धरण से इसकी पुष्टि हो जाती है, "ब्राह्मणों ने शासन करनेवाले विभिन्न तत्वों को राजपूत या क्षत्रिय रूप में स्वीकृति देने के बदले अपनी आजीविका तथा मन्दिर बनाने और उसकी देखरेख के लिए प्रचुर मात्रा में भूमि और रूपये का अनुदान प्राप्त किया। इस अवधि

में भव्य मंन्दिरों का विकास केवल हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान को ही नहीं बल्कि इससे भी अधिक ब्राह्मणों को प्राप्त नये अधिकार और धन को भी संकेतित करता है। ब्राह्मणों को अन्य सुविधाएँ भी प्राप्त थीं, जैसे उन्हें राजपुरोहित के रूप में नियुक्त किया जाता था और धर्म तथा राज्य व्यवस्था से संबंधित विभिन्न विषयों पर उनसे सलाह माँगी जाती थी।"[1]

इस प्रकार बढ़ती हुई ब्राह्मण प्रतिष्ठा 14 वीं एवं 15, 16 वीं शताब्दियों के जाति विरोधी आंदोलनों से कम होती जाती है। ब्राह्मण वर्ग परिस्थिति से सजग होकर भक्ति-आंदोलन में भाग लेता है, जो ब्राह्णों की अवसरवादिता की ओर संकेत करता है।

इतिहासकार डॉ॰ हरबंसमुखिया भक्ति को सामंती व्यवस्था का पोषक तत्व मानने के पक्ष में है। वे इसका उदाहरण दादू दयाल की रचनाओं से पेश करते हैं --

---

1. डॉ॰ सतीश चन्द्र : "उत्तर भारत में भक्ति-आंदोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि", आलोचना, जनवरी/मार्च, 1986, पृ॰ 17, 18.

"दादू ईश्वर को साहिब, सुलतान, महाराज आदि नामों से संबोधित करते हैं। उनका दरबार पूरी तरह से सम्राट के दरबार से मिलता जुलता है।"[1]

दादू ईश्वर की आराधना समकालीन सम्राट के नामों से करते हैं, इससे सम्राट को ऊँचा स्थान मिलता है। इस प्रकार लेखक भक्ति को सामन्ती व्यवस्था से जोडकर इसे सामन्ती समर्थक तत्व बताते हैं । दादू के समकालीन सामाजिक विचार देखें —

"तो निबहे जन सेवग तेरा, ऐसे दया करि साहिब मेरा
जो हम तोरैं तो तू जेरै, हम तोरै पै तू नहीं तोरै।
हम बिसरै पै तूं न बिसारै, हम बिगरै पै तूं न बिगारै।।"[2]

x x x

"हुसियार हाकिम न्याव है, साई के दीवान।
कुलि का हसेब हूवैगा, समझि मुसलमान।।"[3]

1· सं· देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय : "हिस्टरी अण्ड सोसाइटी" पृ·447

2· परशुराम चतुर्वेदी : "दादू दयाल", पृ· 42।

3· वही, पृ· 42?

डा॰ राँगेय राघव भक्ति-आंदोलन को निम्नवर्णों और वर्गों के उत्थान का आन्दोलन बताते हुए, इसमें ब्राह्मणों की अवसरवादिता का भी ज़िक्र करते हैं। समय के अनुकूल ब्राह्मणों ने किस प्रकार अपना रंग बदलकर इस आंदोलन में भाग लिया था, इसका उल्लेख लेखक इस प्रकार करते हैं, "भक्ति का आन्दोलन निम्न वर्णों और वर्गों के उत्थान का आन्दोलन है। ब्राह्मण और क्षत्रियों के पारस्परिक स्वार्थों और सत्ता के युद्ध में ब्राह्मण ने जन आंदोलन के पक्ष में अपने को डालकर, अपने सर्वाधिकारों को एक-एक करके त्याग कर, अपने को क्षत्रियों से बचाया है और भक्ति आंदोलन को स्वीकार किया है।"[1]

निम्न वर्णों के ब्राह्मण विरोधी आंदोलन द्वारा अपनी सत्ता को धक्का लगते हुए देखकर ब्राह्मण वर्ग निम्न वर्णों एवं वर्गों से समझौता करने में ही अपनी ख़ैरियत समझकर इसकी ओर हाथ फैलाता है।

तुलसी के "रामचरितमानस" में कलि वर्णन तथा वर्णाश्रम-

1॰ राँगेयराघव ग्रंथावली, 10, पृ॰ 207

धर्म, वेद, श्रुति सम्मत उनके उपदेशों को देखकर लेखक इन्हें कट्टर ब्राह्मणवादी ठहराते हैं। तुलसी के इस ब्राह्मणवादी रूप के मूल में स्थित सामाजिक द्वन्द्वों की ओर लेखक का ध्यान नहीं जाता है। तुलसी का दूसरा रूप भी है, वह है उनका मानवतावादी रूप। इसमें तुलसी किसी भी प्रकार के भेद-भावों से रहित सर्वमानव-समानता, एवं सुख की कामना करते हैं। इसे अवश्य याद रखना चाहिए।

सामन्त विरोधी और ब्राह्मण विरोधी दृष्टिकोण :-

भक्ति काव्य में सामन्त-विरोधी एवं ब्राह्मण-विरोधी विचारधारा का उद्घाटन करनेवाले आलोचकों में डॉ॰ राम विलास शर्मा, डॉ॰ रमेशकुंतल मेघ, डॉ॰ मैनेजर पण्डेय, डॉ॰ विजेन्द्र नारायण सिंह, डॉ॰ नामवरसिंह तथा डॉ॰ शिवकुमार मिश्र प्रमुख हैं।

रामविलास शर्मा इसे सामन्त-विरोधी साँस्कृतिक आंदोलन बताते हैं। लेखक के अनुसार सामंती ढाँचे के कमज़ोर पडने के कारण ही सन्त साहित्य का विकास संभव हुआ था। लेखक के ही शब्दों में देखें, "भक्ति-आंदोलन मध्यकालीन

समाज-व्यवस्था में जनता का सामंत-विरोधी सांस्कृतिक आंदोलन था। ... इसलिए यह हिन्दू सामन्तों के साथ मुस्लिम सामन्तों और उनके उत्पीड़न के विरुद्ध भी था।"[1]

तुलसी के सामन्त विरोधी विचारों को लेखक उनके काव्य के माध्यम से स्पष्ट करते हैं। तुलसीदास का भक्ति में सभी वर्णों और जातियों को एक समान मानकर ऊँच-नीच, आभीर, जवन, किरात, खस, स्वपचादि का भेद भाव सदा के लिए समाप्त कर देना उनके द्वारा उठाया गया सामन्त विरोधी मूल्य बताते हैं तो स्त्रियों के लिए उपासना के द्वार खोलना एक और सामंत-विरोधी मूल्य है। इसी प्रकार अपने आदर्श रामराज्य की कल्पना में स्त्री और पुरुष के लिए एक ही नियम का मानना, पुरुष का एकपत्नीव्रतधारी होना तथा राम और सीता का विवाहपूर्व प्रेम को दिखाना आदि उदाहरणों द्वारा रामविलास शर्मा तुलसी के सामन्त विरोधी मूल्यों को स्पष्ट करते हैं।

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा : "परम्परा का मूल्यांकन" पृ. 68-69

मैनेजर पाण्डेय भक्तकवियों की प्रगीत रचना को पूर्णरूप से सामन्तविरोधी प्रक्रिया मानते हैं, जो इस प्रकार है -- "भक्तिकाल के कवियों की कविता में आत्माभिव्यक्ति का स्वर अत्यन्त मुखर है। इस काव्य में प्रगीत का विकास भक्तकवियों की आत्माभिव्यक्ति की कामना का मूर्त रूप है। बहुत गहरे स्तर पर प्रगीतात्मकता भक्ति-काव्य की सामंतवाद विरोधी रचना-दृष्टि को प्रमाणित करती है। निस्संदेह सूरदास भक्तिकाल के सबसे बड़े प्रगीतकार हैं।"[1]

सूरदास को प्रगीतकार के नाते सामन्तविरोधी भक्त कवि के रूप में चित्रित करते हुए पाण्डेय जी उनकी इस प्रवृत्ति को अनेक अन्य दिशाओं में भी प्रकट करते हैं। सूर की कविता को लेखक मानव संबंधों की कविता बताते हैं --- "जिसमें लोक और शास्त्र के बंधनों से स्वतंत्र मानवीय भावों और मानवीय संबंधों का सहज स्वाभाविक विकास संभव हुआ है।"[2]

---

1. मैनेजर पाण्डेय : "भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य" भूमिका से उद्धृत

2. वही, पृ. 29।

लेखक का आशय स्पष्ट है कि सूर की रचना सामंती संस्थाओं के दमनकारी प्रभावों का निषेध करनेवाली है और एक रूढ़िमुक्त समाज का निर्माण करनेवाली है।

सूरदास के काव्य पर चिन्तन मनन करने वाले पाण्डेय जी भक्ति-आंदोलन को सूरदास के संबंध में देखते हैं और सूर के सामन्त विरोधी तत्वों को समकालीन भक्ति के तत्वों के रूप में ही स्पष्ट करते हैं।

सूर के काव्य को सामन्ती रूढ़ियों से मुक्त मानते हुए पाण्डेय जी कबीर, जायसी और तुलसी के काव्यों में स्त्री को सामंती रूढ़ियों में जकडी हुई मानते हैं। उनका मानना है कि सूर का काव्य ही स्त्री को सामंती व्यवस्था से पूर्ण रूप से मुक्त रखने में समर्थ है।

मीरा का उदाहरण देते हुए, मीरा को उस सामंती - समाज के बंधनों को तोड़नेवाली बताते हैं।

इस प्रकार सूर एवं मीरा को सामन्त-विरोधी कवि बताते हुए, जायसी, कबीर, तुलसी को सामंतवादी बताते हैं,

जो कि आंशिक रूप से सही है और आंशिक रूप से ग़लत भी है। क्योंकि जायसी का 'पद्मावत' तो स्वयं एक "प्रेमकाव्य" है जो सामंती प्रवृत्ति से पूर्ण रूप से भिन्न है। इस काव्य में जायसी विद्वानों के अनुसार भले ही लौकिक प्रेम को अलौकिक जामा पहनाया हो, परन्तु इसमें चित्रित लोक जीवन, विरह वर्णन, आदि निस्संदेह रूप से लौकिक ही है। और जायसी ने स्त्री को कितना महत्व दिया है, उनका "पद्मावती" को परमात्मा" के रूप में लेना ही सबसे बड़ा उदाहरण है। हाँ, अंत में रत्नसेन की मृत्यु के पश्चात् पद्मावती और नागमती दोनों को सती होते हुए दिखाना है, उसे दृष्टि में रख कर जायसी की नारी को सामन्ती-समाज के बंधनों में जकड़ी मानना अनुचित ही होगा। क्योंकि मध्यकाल में सती-प्रथा पर कोई अंकुश नहीं था जैसे आधुनिक काल में उस पर अनेक निषेधाज्ञाएँ लगा दी गयी थीं और उसके विरोध में क़ानून भी बनाये गये थे। मध्यकालीन काव्य में स्त्री का सती हो जाना एक सामाजिक सच्चाई थी, जिसका वर्णन सामाजिक प्रतिबद्धता व्यक्त करनेवाले लेखक ही कर सकते हैं, जो जायसी के काव्य में व्यक्त है।

भक्ति को ब्राह्मण विरोधी तत्व घोषित करनेवाले डॉ॰ विजेन्द्र नारायण सिंह का भक्ति-आंदोलन को ब्राह्मण विरोधी आंदोलन मानना सहज ही है। इस मत की पुष्टि के लिए इन्होंने "कबीर" को चुना है। कबीर को वे वर्ण और जाति व्यवस्था के प्रबल विरोधी बताते हैं। उनके अनुसार, "ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध जो सही विद्रोह मध्ययुग में हुआ उसका नेतृत्व कबीर ने किया। इस विद्रोह के वे सबसे बडे नेता हैं। ··· भक्ति इस विद्रोह का हथियार है। भारतीय धार्मिक परंपरा में भक्ति बडी ही क्रांतिकारी उद्‌भावना है और यह उद्‌भावना ब्राह्मण व्यवस्था के विरोध में है। भक्ति स्वयं ब्राह्मण विरोधी तत्व है। ब्राह्मणों ने यज्ञ प्रधान, आचार प्रधान और तीर्थ प्रधान धार्मिक परंपरा को प्रतिष्ठित किया था तथा पुराण और स्मृतियाँ इसी के आख्यान हैं। भक्ति ने इन सारी चीज़ों का विरोध किया और नाम की महिमा प्रतिष्ठित की। नाम की महिमा आचार प्रधान ब्राह्मण व्यवस्था पर सीधा प्रहार है।"[1]

जब स्वयं "भक्ति" ही ब्राह्मण विरोधी तत्व है तो,

1· डॉ· विजेन्द्र नारायण सिंह : "कबीर : ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह", हिन्दुस्तानी , अंक 3-4, पृ· 143·

पूरा का पूरा भक्ति-आंदोलन का ब्राह्मण विरोधी होने में कोई संदेह नहीं रह जाता है। मध्ययुग का सामाजिक ढाँचा ही ऐसा था कि वर्ण-व्यवस्था को पुन: प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न बड़े जोरों पर थे। परंपरागत ब्राह्मणाधिपत्य से संतुष्ट ब्राह्मण वर्ग अपने अधिकारों को किसी भी हालत में खोना नहीं चाहता था। इसलिए सतीशचन्द्र के कहे अनुसार, मध्ययुग में ब्राह्मण-राजपूत समझौता भी ब्राह्मणों के वर्ग-स्वार्थों को ही दर्शाता है। ऐसे मध्ययुगीन समाज में निम्न वर्णों एवं जातियों का अस्तित्व मात्र उच्च जातियों एवं वर्णों के गुलाम के स्तर पर था, जो कबीर जैसे क्राँतिकारी व्यक्तित्व को क़तई पसन्द नहीं था। इसी व्यक्तित्व का परिणाम ही था कि कबीर की विद्रोही वाणी, जो ब्राह्मणों के आधिपत्य के विपरीत प्रस्फुरित हो उठी।

भक्ति-आंदोलन की क्राँतिकारिता को लल्लनराय उसके सामन्त विरोधी होने के संदर्भ में बताते हैं। उत्तर भारत में इस आंदोलन की क्राँतिकारिता लेखक के अनुसार इस प्रकार है --- "कबीर आदि निर्गुण सन्तों और प्रेमोल्लास में लीन सूफ़ी सन्तों के द्वारा उत्तर भारत में जिस भक्ति-आंदोलन

का सूत्रपात हुआ, उसमें हिन्दू-मुस्लिम सामंतवादी तत्वों के विरुद्ध निम्न वर्गीय साधारण हिन्दू-मुस्लिम आम जनता का विक्षोभ व्यक्त हुआ है। इन्होंने समान रूप से हिन्दू और इस्लाम धर्म की कट्टरता, शास्त्रबद्धता और पुरोहिती कर्मकाण्ड का विरोध किया है तथा जातीय एकता पर बल दिया है।"[1]

भक्ति के सामन्त-विरोधी जन-आंदोलन के रूप में बताते हुए लेखक इसमें हिन्दू एवं मुसलमान धर्म संबंधी साधारण जनता का एक जुट होकर भाग लेना इसकी जातीयता का संकेत बताते हैं। मुस्लिम सूफी सन्तों ने स्वयं इस्लाम धर्म की कट्टरता के विरुद्ध एक सामाजिक भूमिका निभाई थी। सूफी संत प्रेम-मार्ग द्वारा इस आंदोलन में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

अर्थात्, यह आंदोलन हिन्दू-मुसलमान सामंतवादी तत्वों के और उनके धार्मिक बाह्याडंबरों के विरुद्ध लड़नेवाला साधारण जनता का आंदोलन था, जो जन-आंदोलन के रूप में प्रकट होता है।

और भी अनेक मार्क्सवादी आलोचक हैं, जिन्होंने इस भक्ति-आंदोलन को सामंत विरोधी एवं ब्राह्मण विरोधी

माना है और सामंतवाद की पुष्टि करनेवाला तथा वर्णाश्रम धर्म का समर्थक भी माना है। इसके अलावा कुछ अन्य विद्वान इसे दोनों दृष्टिकोणों से देखते हुए इसके इन द्वन्द्व विचारों को युगीन सामाजिक द्वन्द्व बताते हैं।

सामाजिक द्वन्द्व :-

भक्ति-आंदोलन को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों में देखे जाने के कारण उस काव्य में अभिव्यक्त द्वन्द्व विचार ही हैं। इसीलिए विद्वान इसे दोनों दृष्टियों से देखते हैं। पूरे विद्वान इसके अन्तर्विरोधों को पकड़ने में समर्थ नहीं है। रमेशकुंतल मेघ, एक ऐसे विचारक हैं, जिन्होंने समकालीन सामाजिक द्वन्द्वों को समकालीन भक्ति-काव्य में मुखरित होते हुए देखा है। नामवरसिंह, शिवकुमार मिश्र तथा मैनेजर पाण्डेय इसके लोकजीवन के पहलू पर अधिक ध्यान देते हैं, जो युगीन सामाजिक जीवन की विचारधारा थी, जो कि भक्ति-काव्य में अभिव्यक्ति पाती है।

डॉ॰ रमेशकुंतल मेघ तुलसी के वर्णाश्रम धर्म के समर्थक रूप एवं उसके विरोधी रूप और सामंती व्यवस्था के समर्थक रूप

एवं उसके विरोधी रूप आदि द्वन्द्वों को बताते हैं --
"तुलसीदास प्रमुख अन्तर्विरोधों में तो फँसे ही रहे, वे लोक में तो वर्णाश्रम-व्यवस्था के पक्के समर्थक थे, किन्तु उपासना के क्षेत्र में जात-पाँत को व्यर्थ समझते थे; वे सीता को आदिशक्ति मानते थे, किन्तु नारियों को नैसर्गिक जड़ता; वे अपने युग की ऐतिहासिक त्रासदी तथा कठोर यथार्थता को बेहद भोगते रहे। लेकिन रामकथा के मिथकीय काल में उस भयानक भोग को भव्य आनंद में उलट देते रहे; इत्यादि।"[1]

तुलसी के "मानस" का उत्तर काण्ड ही उनके इस विरोधी रूप का ज्वलंत उदाहरण है। एक तरफ ब्राह्मणों की पूजा-सेवा में ही सब का सुख बताते हैं तो दूसरी ओर कलियुग में कामी, लोलुप ब्राह्मणों के रूप पर भी बल देते हैं और जो ब्राह्मण अपने धर्म से मुड़ जाता है, ऐसे ब्राह्मणों की निंदा भी करते हैं। अपनी रचना "कवितावली" में सामाजिक यथार्थता का जीवंत चित्रण करते हैं और "हनुमान बाहुक" में अपनी दुखद, पीड़ित, रोगग्रस्त स्थिति को राम भक्त हनुमान जी के समक्ष रखते हैं। इस प्रकार अपने व्यक्तित्व

---

1. डा॰ रमेशकुंतल मेघ : "तुलसी : आधुनिक वातायन से" गोष्ठी के प्रवर्तक पत्र से उद्धृत, पृ॰ 26

को वाणी देकर, वे अपनी सामंत विरोधी प्रवृत्ति को ही व्यक्त करते हैं।

मेघ, तुलसी काव्य में राम के चरित्र में पाये जानेवाले अंतर्विरोधों को इस प्रकार बताते हैं -- "जिस पाप के कारण राम छिप कर वालि का वध करते हैं, वैसी ही कुचाल जब सुग्रीव तथा विभीषण करते हैं तो राम स्वप्न में भी उसका मन में विचार नहीं करते (मानस, 1/28/3-4)। इसी तरह जिन वैदिक यज्ञों की रक्षा के लिए राम अर्पित हैं, वैसे ही मेघनाथ और रावण द्वारा रचाये गये यज्ञों के ध्वंस की वे आज्ञा देते हैं (मानस, 6/74/4, 6/84/2)।"[1]

तुलसी स्वयं एक शोषित किसान वर्ग से उत्पन्न, परन्तु उच्च वर्ण के भक्त कवि थे। वे बचपन से ही अनाथ थे, इसलिए उन्हें समाज में अनेक अपमान झेलने पड़े। समाज की बुराइयों से अत्यंत निराश होकर तुलसी दास ने एक आदर्श रामराज्य की कल्पना की। तुलसी के अपने व्यक्तिगत अंतर्विरोधों का प्रभाव उनकी कृतियों पर भी है। एक तरफ आदर्श रामराज्य, जो कि अत्यंत सुखी जीवन देनेवाला है, की कल्पना करने वाले वे भक्त कवि दूसरी ओर घोर कलिकाल का वर्णन भी

---

1. रमेशकुंतल मेघ : "तुलसी : आधुनिक वातायन से", पृ. 81

करते हैं।

तुलसी की सामंत विरोधी प्रक्रिया को रेखांकित करते हुए मेघ, तुलसी द्वारा राजा राम का "एकपत्नीव्रत धारण करना , उनकी सामंत विरोधी प्रक्रिया मानते हैं, जिसे रामविलास शर्मा ने रेखांकित किया है।

तुलसी के सामंत विरोधी एवं सामंतवाद के पक्षपाती दोनों रूपों को मेघ आगे इस प्रकार बताते हैं -- "अयोध्या तक का सारा परिवारतन्त्र घोर सामन्तीय आदर्शों व यथार्थताओं वाला है [बहुपत्नी, अंत:पुर के कोपभवन, सौतिया डाह, षड्यंत्र, भाई द्वारा भाई की गुलामी-चाकरी या उससे युद्ध की आशंका]। किन्तु ज्यों ही वन का वातावरण उपस्थित होता है राम का परिवार "सम्मिलित कुटुंब" न होकर एक "दंपति परिवार" हो जाता है, जिसमें ललिता सीता को प्रेम, श्रृंगार, कामना [मृगछालाप्राप्ति] आदि की भी स्वतंत्रता है।"[1]

मेघ तुलसी की रचनाओं में तत्कालीन समाज की यथार्थता

---

1. रमेशकुंतल मेघ : "तुलसी : आधुनिक वातायन से", पृ. 175

को उस काल में स्थित समूचे द्वन्द्वों में पाते हैं। वहाँ सामंती व्यवस्था भी थी और समाज में उसे तोड़ने की प्रबल इच्छा भी थी। वर्णाश्रम धर्म भी था और उसके परे भक्ति की धरातल पर मानवमात्र की एकता का प्रयत्न भी था। ब्राह्मण आधिपत्य भी था और उसके खिलाफ आवाज उठानेवाली शूद्र जैसी निम्न जातियाँ भी थीं। निर्गुण भक्ति भी थी और सगुण भक्ति भी। इन सारे सामाजिक द्वन्द्वों को तुलसी ने अपनी रचनाओं में स्थान दिया जिसकी मेघ ने गहराई से अध्ययन और विवेचन किया। कहीं तुलसी सुधारवादी के रूप में उभरते हैं तो कहीं घोर कट्टरपन्थी, परंपरापसंदी रहते हैं। तुलसी के ये अंतर्विरोध सामाजिक द्वन्द्वों की उपज ही हैं।

भक्ति-साहित्य को "भारतीय समाज के अंतर्विरोधों से पैदा हुआ साहित्य"[1] बताते हुए डॉ॰ रामविलास शर्मा भी इस साहित्य के अंतर्द्वन्द्वों की ओर इशारा करते हैं।

भक्ति-आंदोलन में लोक-भाषाओं को अधिक महत्व देते हुए रामविलास शर्मा तुलसी के हिन्दी भाषा के प्रयोग को

1· रामविलास शर्मा : "हिन्दी जाति का साहित्य", पृ· 26

उनकी युगांतरकारी उपलब्धि घोषित करते हैं;"[1] जबकि रांगेयराघव इसके विरुद्ध तुलसीदास द्वारा हिन्दी भाषा के प्रयोग को ब्राह्मणवाद के पुनस्संगठन के लिए ही मानते हैं।"[2]

रामविलास शर्मा तुलसी के वर्णाश्रम धर्म के समर्थक होने की बात के उत्तर में उसे उनकी "ऐतिहासिक सीमा"[3] बताते हैं। इसके समर्थन में वे एक लंबी चौड़ी टिप्पणी इस प्रकार करते हैं कि पुरोहितों और राजाओं ने धर्म पर अपना अधिकार जमा लिया था, उस समय लोगों का सांसारिक बन्धनों से मुक्ति के लिए अपने अधिकारों को पहचानना उनके लिए असह्य था, क्यों कि "हर वर्ण के लिए उसने धर्म-कर्म की व्यवस्था कर रखी थी; उसमें किसी तरह का हेर-फेर करने पर कठोर दण्ड देने की व्यवस्था भी थी। इसीलिए सामंतों और पुरोहितों के खिलाफ़ जनता के संघर्ष ने

1· रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ· 69

2· "रांगेयराघव ग्रंथावली" - 10, पृ· 218

3· रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ· 76

अगर धार्मिक लिबास पहना तो वह एक अनिवार्य ऐतिहासिक आवश्यकता थी।"[1]

लेखक का आशय यह है कि युग की माँग ही ऐसी थी कि लोगों को संघर्ष एवं विद्रोह के लिए भक्ति का सहारा लेना पड़ा। भक्त कवि सामाजिक अंतर्विरोधों को इस रूप में पेश करते आये कि वे द्वन्द्व खुद के द्वन्द्व भी बनते चले गये, जिसकी अभिव्यक्ति की जीवंतता को हम उनके काव्य में देखते हैं।

मुक्तिबोध, राँगेयराघव जैसे आलोचकों ने तुलसी को ब्राह्मणवादी ठहराया था। तुलसी के ब्राह्मणवादी पक्ष को लेकर वे इस तरह के नतीजे पर पहुँचते हैं। परंतु इस प्रकार तुलसी के ब्राह्मणवादी विचारों के मूल में कौन-सी परिस्थितियाँ थीं, इसको ओर उन्होंने झाँककर भी नहीं देखा। अगर देखते तो, उन्हें पता चल जाता कि ये समकालीन सामाजिक द्वन्द्व ही थे, जो तुलसी-काव्य में प्रस्फुटित हुए थे।

राँगेयराघव तुलसी के अंतर्विरोधों को स्पष्ट नहीं करते हैं बल्कि उन्हें "वर्णाश्रम धर्म के समर्थक एवं सामंती व्यवस्था

---

1. रामविलास शर्मा: "परंपरा का मूल्यांकन", पृ॰ 76

के प्रतिस्थापक"[1] बताते हैं।

तुलसी के समाज के प्रति इस रवैये का कारण भी हमें राघव जी के इस कथन से पता चल जाता है कि "यही है वह भक्ति-आंदोलन, जिसने पुनर्जन्म का भय दिखाकर एक ओर निम्न वर्णों के सर्वनाशी विद्रोह को रोका है, क्योंकि उस समय उसका अर्थ किसी नई व्यवस्था का सूत्रपात नहीं होता, और दूसरी ओर उसने उच्च वर्णों के सर्वाधिकारों पर अंकुश लगाया है।"[2]

मध्ययुग में पुनर्जन्म के भय का अर्थ है -- हर एक मनुष्य को वर्णाश्रम धर्म का पालन करना चाहिए। वरन् उस मनुष्य को दादुर, चमगीदड के रूप में जन्म लेना पड़ता है। ऐसा भय तुलसी को भी था, जिसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति उनके काव्य में मिलती है। ब्राह्मणों की निंदा करने पर नरक को जाना पड़ता है (रामचरित मानस, उत्तर काण्ड)।

---

1. रांगेयराघव ग्रंथावली" - 10, पृ. 235
2. वही, पृ. 207-208

यह सब डर अनेक निगम, आगम, नाना पुराणों का अध्ययन करनेवाले तुलसी में होना सहज ही था। और वह एक सामाजिक यथार्थ था, उससे भी अधिक तुलसी का मानसिक यथार्थ था जो उनकी रचनाओं में स्थान पाता है।

मध्यकालीन समाज में दो प्रकार के विचार पनप रहे थे। एक था "वर्णाश्रम धर्म के विरोधी विचार।" दूसरे, "वर्णाश्रम धर्म के पोषक विचार।" जिस वर्ग को वर्णाश्रम धर्म द्वारा हानि होती थी वह वर्ग निर्भय होकर उसका विरोध करता था। इसके विपरीत जिस वर्ग को वेदों, उपनिषदों, पुराणों पर विश्वास था, पुनर्जन्म का भय था वह वर्णाश्रम धर्म का समर्थक होता था। तुलसी भी ऐसे ही वेद सम्मत भक्ति की प्रतिष्ठा करनेवाले थे। इसलिए उनका विश्वास था कि वर्णाश्रम धर्म के पालन में ही समाज का कल्याण है। वे कलिकाल में इतने अनर्थ घटनाओं के घटने के मौलिक कारण के रूप में वर्णाश्रम धर्म का विरोध किया जाना ही मानते थे। इसलिए वे सभी को वर्णाश्रम धर्म का पालन करके सुखी जीवन बिताने का संदेश देते हैं।

इस प्रकार तुलसी का वर्णाश्रम धर्म के समर्थक रूप एक तरफ उनके मानववादी विचारों के अनुरूप ही था तो दूसरी ओर वह मध्ययुगीन सामाजिक द्वन्द्वों की अभिव्यक्ति भी था।

लोकजीवन :-

भक्तिकाव्य को मात्र "लोकजीवन" की दृष्टि से व्याख्या करनेवालों में शिवकुमार मिश्र का विशेष स्थान है उनसे बहुत पहले भक्ति-काव्य के लोकजीवनपरक तत्वों को डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने "हिन्दी साहित्य की भूमिका" में "लोकधर्म" नाम से प्रकट किया था, जिसका पुन: विवेचन डॉ॰ नामवरसिंह और डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय ने किया।

लोकजीवन से शिवकुमार मिश्र का तात्पर्य साधारण जन के स्वप्न, उनकी आशाएँ, आकांक्षाएँ और उनके सुख-दु:ख हैं, जिसका विवेचन, मिश्र जी भक्ति-आंदोलन के माध्यम से करते हैं।

सामंती समाज-व्यवस्था में साहित्य में सामंती विचारधारा के विरुद्ध लोकजीवन को महत्व देना ही स्वयं सामंतवाद

का विद्रोह है। इस प्रकार के विद्रोह को नामवरसिंह जी स्पष्ट शब्दों में, "साधारण जनों के विद्रोह की विचारधारा" कहते हैं। रामविलास शर्मा इसे "लोक-संस्कृति" की संज्ञा देते हैं और रमेशकुंतल मेघ इसे "लोक-समाज" कहते हैं। मैनेजर पाण्डेय सूर के गोचारण-प्रसंग में लोकजीवन का सौंदर्य देखते हैं, तो प्रेमशंकर इस लोकजीवन को परखने के लिए "जायसी" के काव्य को चुनते हैं।

इन सारे विद्वानों ने भक्ति-काव्य की "लोक-चेतना" को ही विभिन्न रूपों में अपने-अपने नज़रिये से विश्लेषण किया है। परन्तु अंतत: निष्कर्ष यही निकलता है कि भक्ति-आंदोलन के जन-आंदोलन के रूप में विख्यात होने का मूल कारण इसकी लोक-जीवनपरक विचारधारा ही थी।

शिवकुमार मिश्र सूर के श्रृंगार वर्णनों को महज़ लौकिक श्रृंगार मानते हैं। वे उनकी आध्यात्मिकता को नहीं पहचानते हैं। गोपियों के संग श्रीकृष्ण की लीलाओं को सहज मानवीय लीलाएँ मानते हैं। मिश्र जी का यह कथन है कि "सूर और उनके समान धर्माओं की कविता लोकजीवन से गृहीत

अनुभूतियों की कविता है, और इसीलिए लोकजीवन को प्रभावित करने में वह इतनी सक्षम भी है। इस कविता के सारे आध्यात्मिक संकेतों को निकाल दिया जाय, उसके सांप्रदायिक आशयों तथा धार्मिक-दार्शनिक निरूपणों को भी तरजीह न दी जाए, उसे महज़ संसार सागर की रूप तरंगों से प्रभावित होनेवाली उसी से प्रेरणा लेनेवाली, विशुद्ध मानवीय और विशुद्ध लौकिक लोकजीवन के बहुआयामी सौंदर्य का अक्षय कोष उसमें है, मानवीय जीवन के हर्ष-विषाद का जो आख्यान उसमें है, लोक की पीडा और लोक के उल्लास के जो स्वर उसमें है, लोकजीवन की जितनी खरी और सटीक पहचान उसमें है, मात्र इन सबके बल पर ही वह किसी भी सहृदय के मन पर अमिट छाप छोडने में समर्थ है।"[1]

सूरदास के ही नहीं, वे जायसी के काव्य को भी लौकिक प्रेमकाव्य ही मानते हैं। इनकी रचनाओं से आध्यात्मिक पक्षों को अलग करके, उनके लोकजीवन पक्ष को ही महत्व

---

1. शिवकुमार मिश्र : "भक्ति-काव्य और लोक जीवन"
पृ. 79

देते हैं, जो कि हमारे विचार में उचित नहीं है; क्योंकि उनकी प्रधान प्रवृत्ति भक्ति की रही, जो प्रभु कृपा के लिए प्रभु-भजन में लीन थी। वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग भी यही था कि भक्त भगवान का अनुग्रह चाहता था। सूरदास मंदिर में कीर्तन-भजन के गायक के रूप में प्रसिद्ध थे। फिर इन भक्त-कवियों की रचनाओं में लोकजीवन भी उन्हीं भक्तिगीतों के माध्यम से व्यक्त होता है और "भक्ति" मध्ययुगीन साहित्य की मूल विचारधारा थी। इस प्रकार की मूलविचारधारा को गौण बनाकर, उससे हटकर, दूसरी विचारधाराओं को प्रधान बनाया जाना अनुचित ही लगता है।

फिर तो, गोकुल की सारी गोपियों का घर-बार, लोक लाज (पति-परिवार) छोड़कर यमुना तट पर रात के समय में श्रीकृष्ण का मुरलीगान सुनकर, रास रचाने निकल जाना, और कृष्ण का एक ही समय में इतनी सारी गोपियों के साथ लीला करना कोई साधारण मानवोचित बात नहीं है। यह बात कल्पना से ही सही, एक अवतारी पुरुष (परब्रह्म का अवतार श्री कृष्ण) से ही संभव हो सकती थी, जो मध्यकालीन भक्तकवियों की कल्पना की उपज है।

मिश्र जी इस प्रकार के खुले जीवन-विधान को मध्यकालीन सामंती मानसिकता में नारी की स्वेच्छा एवं कुण्ठाहीन जीवन विधान की अभिव्यक्ति मानते हैं। अगर यही सच है तो नारी का अपने घर-परिवार यहाँ तक कि पति की भी उपेक्षा कर एक पर-पुरुष (श्री कृष्ण) के साथ रात के समय में यमुनातट पर विचरण करने की बात को भी न्यायसंगत कैसे ठहरा सकते हैं ? यह बात तभी जँचेगी, जब श्री कृष्ण गोपियों के लिए एक साधारण "पर-पुरुष" न होकर भगवान का अवतार हो। सूरदास ने इसी अवतारी पुरुष की स्तुति की, आराधना की और उनसे प्रेम किया, उसी प्रकार अन्य लोगों को भी उनसे प्रेम करने के लिए कहा। उन्होंने किसी साधारण स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंधों को लेकर रचना नहीं की, और उस प्रकार साधारण मनुष्यों के प्रेम में घर-बार छोड़कर निकल जाने की बात नहीं की। एक तरफ़ स्वयं मिश्र जी सूर की बाल लीलाओं के सामाजिक उद्देश्य को बताते हुए यशोदा का वात्सल्य और नंद का बालकृष्ण के प्रति प्रेम "एक सुखी गृहस्थ जीवन"[1] और "बिखरते हुए

---

1. शिवकुमार मिश्र : "भक्तिकाव्य और लोकजीवन" पृ. 84

गृहस्थ जीवन को नया आधार प्रदान"[1] करने हेतु इन बाल लीलाओं की रचना की गयी, तो दूसरी ओर इन्होंने श्री कृष्ण और गोपियों के प्रेम-संबंध को उसी गृहस्थ जीवन के परे, उपेक्षा करते हुए बताते हैं।

सिर्फ श्रीकृष्ण के वात्सल्य वर्णन ही नहीं, सूरदास श्रृंगार वर्णन में भी सामाजिक मर्यादा का पालन करते हुए दिखाई देते हैं। इसीलिए वे प्रेम को मात्र गोपी-श्री कृष्ण के बीच नहीं बल्कि समस्त ब्रजमंडल को कृष्ण से प्रेम करता हुआ दिखाते हैं। ब्रजभूमि की समस्त प्रकृति, जीव-जन्तु, नदी, सब कुछ कृष्ण के विरह में व्याकुल हो जाते हैं। गोपियाँ तो कृष्ण के मथुरा जाने के पश्चात् उद्धव के ज्ञानोपदेशों का, जो निर्गुण ब्रह्म को स्वीकार करने के लिए गोपियों को सलाह देते थे, निराकरण करती हुई कहती हैं —

"ऊधो, मन नाहीं दस बीस
एक हु तो सो गये हरि के संग, को आराध तुव ईस ?"[2]

1· शिवकुमार मिश्र : "भक्ति काव्य और लोकजीवन", पृ· 84
2· सं· रामचन्द्र शुक्ल : "भ्रमरगीत सार" पृ· 109· पद·210

गोपियों का एक ही मन है, वह भी सगुण ब्रह्म श्री कृष्ण को दे चुकी हैं। श्री कृष्ण की भक्ति में पूर्ण रूप से तादात्म्य गोपियाँ, जब चाहे तब कोई उद्धव जैसा व्यक्ति उन्हें अपने मन को किसी और अव्यक्त ब्रह्म पर लगाने के लिए कहे तो गोपियाँ मानेंगी भी कैसे ? इसमें सूरदास ने स्त्री के मर्यादा-रूप का ही चित्रण किया है। इस प्रकार भक्ति-क्षेत्र में गोपियाँ एक ही बात पर अटल रह सकती हैं तो पारिवारिक क्षेत्र में वे दुहरा जीवन कैसे जीयेंगी ? भक्ति के रूप में उच्च सामाजिक मूल्यों को, और मानवतावाद को प्रतिष्ठित करनेवाले भक्त कवि कभी भी सामाजिक उच्छृंखलता को चाहत नहीं कर सकते।

तुलसीदास को मिश्र जी "जननायक" की संज्ञा देते हैं, जो ख़िताब तुलसीदास जैसे भक्त-कवि के लिए सही साबित होता है। तुलसी की कवितावली और "मानस" इस रूप के लिए ज्वलंत उदाहरण हैं। तुलसीदास जब कभी भी अपने दुःखों को भगवान "राम" के समक्ष प्रस्तुत करते हैं, अपने समकालीन समय की जनता के कष्टों संबंधी बातों का ही ज़िक्र करते थे, इसीलिए वे अपने "मानस" में भी यों कहते हैं —

"परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
पर पीडा सम नहिं अधमाई।।
निर्नय सकल पुरान बेद कर।
कहेउँ तात जानहि कोविद नर।।"[1]

दूसरों के हित में ही सबसे बडा धर्म वे देखते हैं। तुलसी के "लोकजीवन" के संबंध में मिश्र जी के विचार इस प्रकार हैं, "तुलसी लोकजीवन की मधुरा-तिक्त अनुभूतियों के मुग्ध और सजग गायक हैं। इस लोकजीवन की एक-एक छवि को उनकी कृतियों में देखा जा सकता है। वे अन्याय का सक्रिय प्रतिरोध करने की सलाह देनेवाले और राम के रूप में उसका आदर्श पेश करनेवाले समाज दृष्टा हैं। वे आत्म-सम्मान से दीप्त एक निर्भीक जन नायक हैं।"[2]

इस कथन से तुलसीदास का सामाजिक जीवन के प्रति लगाव एवं चिंता का स्पष्टीकरण हो जाता है।

डॉ. नामवरसिंह, "मध्यकालीन भारतीय इतिहास का मुख्य अंतर्विरोध शास्त्र और लोक के बीच का द्वन्द्व है, न कि

---

1. सं. रामचंद्र शुक्ल : "तुलसी ग्रंथावली," प्रथम खण्ड, सप्तम सोपान पृ. 434
2. शिवकुमार मिश्र : "भक्ति काव्य और लोक जीवन", पृ. 112

इस्लाम और हिन्दू धर्म का संघर्ष"[1] कहकर शास्त्र और लोक के बीच उत्पन्न टकराव को बताते हैं। इन्होंने अपने "लोकधर्म" का विवेचन डॉ॰ हजारी प्रसाद द्विवेदी के "लोकधर्म" संबंधी विचारों के अध्ययन के संदर्भ में किया है, जो इस प्रकार है-- "लोकधर्म" साधारण जनों के विद्रोह की विचारधारा है। इसे "लोकधर्म" कहने का एक कारण तो यह है कि यह उच्च वर्गों के "शास्त्र" के समान सूक्ष्मातिसूक्ष्म तर्क-पद्धति से संपन्न तथा व्यापक विश्व दृष्टि के रूप में विकसित कोई सुसंगत और सुव्यवस्थित "विचार प्रणाली" नहीं है। दूसरा कारण यह है कि यह पूँजीवादी समाज के बीच निर्मित किसी एक सुनिश्चित वर्गचेतन वर्ग की विचार प्रणाली नहीं, बल्कि सामन्ती युग के असंगठित किसान और दस्तकारों के विविध वर्गों, उपवर्गों की मिली-जुली भावनाओं का पुंज है।"[2]

इस प्रकार नामवरसिंह जी के विचारों का आशय है कि किसान और दस्तकारों का वर्ग शासक सामंती वर्ग की विचारधारा से मुक्त अपनी शक्ति -- "लोकधर्म"-- के बल पर विद्रोह करता है। इसी विद्रोह का प्रभाव भक्ति-आंदोलन के विकास की

---

1. डॉ॰ नामवरसिंह : "दूसरी परंपरा की खोज", पृ॰ 78
2. वही, पृ.सं. 80-81

पृष्ठभूमि में है। "लोकधर्म" को वे अव्यवस्थित एवं अनिश्चित बताते हैं।

जब कोई अनिश्चित विचारधारा (लोकधर्म) किसी सुनिश्चित विचार (विद्रोह) का आधार बन सकता है, तो उस विचारधारा को सुनिश्चित ही माना जाना उचित रहेगा। समाज में बहुसंख्यक वर्ग की विचारधारा "लोकधर्म" है तो अल्पसंख्यक उच्च वर्ग की विचारधारा शास्त्र है। और इन शास्त्रों की सृष्टि उच्च वर्ग ने अपने स्वार्थों के लिए ही की है, जिसमें हमेशा निम्न बहुसंख्यक वर्ग के कुचले जाने के विचार ही होते हैं। ऐसे शास्त्र धर्म को ठुकराकर, अगर जन-साधारण "लोकधर्म" को बना लेता है तो इसका महत्व और भी बढ़ जाता है। इस प्रकार "लोकधर्म" और "शास्त्र" के दो अलग-अलग अस्तित्वों को समाज में स्थान है, उनमें द्वन्द्व का होना अनिवार्य है। जब समाज "वर्गयुक्त" है, तो समाज के नियम, क़ानून भी इन्हीं वर्गों में बँट जाते हैं, दोनों वर्गों के स्वार्थों के लिए भिन्न-भिन्न विचार प्रणालियाँ पनप उठते हैं। द्वन्द्व और तक़रार चलते रहते हैं, मगर कोई भी एक विचारधारा "लोकधर्म" किसी दूसरी विचारधारा "शास्त्र" से कम या बढ़कर नहीं होता है।

मैनेजर पाण्डेय अपने लोकजीवन संबंधी विचारों को सूर के काव्य में प्रतिबिंबित होते हुए देखते हैं। कृष्ण का किसान-जीवन से और पशुपालन (गायों को चराना) से संबंध को सूर अपने काव्य में जीवंत अभिव्यक्ति देते हैं। सूर का स्वयं किसान जीवन से संबंध बताते हुए लेखक का मानना है कि सूर गोचारण के कवि हैं, गोचारण कृषि-व्यवसाय का ही एक अंग है। कृषि-व्यवस्था में पशुपालन भी एक अंग होने के कारण सूर का काव्य जितना गोचारण से संबद्ध है, उतना ही किसान-जीवन से।

सामंती-व्यवस्था में किसान अत्यधिक लूटमार के शिकार हुए थे। लगान-वसूली के लिए सामंती पदाधिकारियों का ध्यान किसानों पर रहता था। परंतु भूमि पर अधिकार सामंतों का ही था, सिर्फ हल चलाना, फसलों को उगाना किसानों का काम था। इसलिए किसान ग़रीब भी थे। ऐसे ग़रीब किसानों पर अधिक "कर" लगाकर शोषण करनेवाली सामंती व्यवस्था के प्रति सूर जैसे मानवप्रेमी कवि संतुष्ट नहीं थे। स्वाभाविक ही है कि ऐसे में उनकी क़लम से शोषण-व्यवस्था का चित्रण और उसे दूर करने के उपाय फूट पड़ेंगे।

सूर के किसान-जीवन से तादात्म्य को लेखक पाण्डेय जी सूर के इस पद का उदाहरण देते हुए प्रस्तुत करते हैं —

"प्रभु जू यौं कीन्हीं हम खेती।
बंजर भूमि गाउं हर जोते, अरु जेती की तेती।।

x x x

कीजै कृपादृष्टि की बरषा, जन की जाति लुनाई।
सूरदास के प्रभु सो करिये, होई न कान-कटाई।।"[1]

(सूरसागर, भाग-1, पद सं. 185)

"इस रूपक में खेती से संबंधित सभी आवश्यक बातें आ गयी हैं; खेती के साधन, उसकी प्रक्रिया, कठिनाइयाँ और किसान के श्रम को कभी सार्थक, कभी निरर्थक बनानेवाली वर्षा भी।"[2]

सूर का लोकजीवन कृषि और गोचारण के साथ-साथ कृष्ण के ब्रज में ग्वाल-बालकों के साथ वन-विहार करने में, मुरली गान में, ब्रज के उत्सवों में, त्योहारों में भी प्रकट होता है।

विद्वानों के कहे अनुसार मध्यकाल में सभी प्रकार की विचार-धारायें एक ही दिव्य-स्रोत "भक्ति" के माध्यम से व्यक्त होती हैं, उसी प्रकार सभी प्रकार के भावों-विचारों की अभिव्यक्ति

---

1. सं. नंददुलारे वाजपेयी : "सूरसागर", पृ. 60, पद. 185
2. मैनेजर पाण्डेय : "भक्ति-आंदोलन और सूरदास का काव्य", पृ. 295

का माध्यम भी "भक्ति" ही रही। इसका उदाहरण सूर का उपर्युक्त पद ही है, जिसमें सूरदास अपने प्रभु को शामिल करते हैं।

जहाँ एक ओर डॉ॰ प्रेमशंकर, जायसी और कबीर -- दोनों को "मध्यकाल में साँस्कृतिक समन्वय के प्रतीक रूप में उपस्थित"[1] करते हैं, वहाँ रामविलास शर्मा, जायसी को "जन-संस्कृति"[2] के कवि के रूप में देखते हैं।

हिन्दू प्रेम कहानियों के माध्यम से भारतीय लोकजीवन का चित्रण करनेवाले एक सूफी सन्त जायसी को साँस्कृतिक समन्वय का कवि मानना सहज ही है।

जायसी के काव्य विषय जैसे हिन्दू-प्रेमाख्यानों को चुनना तथा उनकी भाषा और शैली आदि जन-साधारण के अनुकूल होने के कारण ही इन्हें "जन संस्कृति का कवि" कहा गया है।

रमेशकुंतल मेघ "लोक समाज" नाम देकर लोकजीवन को तुलसी के काव्य के संबंध में इस प्रकार बताते हैं, "तुलसी ने समाज के अपने चित्रण में आदिम समाज तथा कृषक समाज — दोनों का मेल

1· डॉ· प्रेम शंकर : "भक्तिकाव्य की सामाजिक साँस्कृतिक चेतना", पृ· 49

2· डॉ· रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ· 52

करा दिया है। इसे लोक समाज [फोक सोसाइटी] कहा जा सकता है। तुलसी की कृतियों में शहरी तथा ग्रामीण [लोक] समाज, दोनों ही आये हैं।"[1]

भक्ति-काव्य में लोकजीवन का विशद चित्रण हुआ है, यह तथ्य स्पष्ट है। भक्त-कवियों का सामंती विचारधारा से विमुख और लोकजीवन से सुमुख होने का मूल कारण, शोषित, पीड़ित जन का साथ देना रहा। जनता के पक्ष में अपनी प्रतिबद्धता को व्यक्त करने का ज़रिया उनका लोकजीवन का चित्रीकरण रहा, जिसमें जन-समाज के सुख, दु:ख, तीर्थ-त्योहार, होली-उत्सव आदि की अभिव्यक्ति निष्कलुष रूप में होती है। मध्यकालीन वे भक्त कवि, भक्त कवि होने के कारण ही अपने काव्य को जन-जीवन की आकांक्षाओं का काव्य बना सके थे। अगर वे श्रृंगारी कवि हुए होते तो सामंती भोगविलासी प्रवृत्ति को पुष्टि देते हुए, सामंती राजाओं की चापलूसी में अपनी रचनाओं को गढ़ लेते थे। "भक्ति" के मूल में निहित मानवतावादी विचार ही इन सच्चे भक्त कवियों को जन-कवियों के रूप में प्रतिष्ठा दिलाते हैं।

निष्कर्ष :

विद्वानों के अब तक के इन विचारों में एक साधारण बात

---

1. डॉ. रमेशकुंतल मेघ : "तुलसी : आधुनिक वातायन से", पृ. 66

यह है कि "भक्ति-आंदोलन" सामंती व्यवस्था को नष्ट करनेवाला तथा उसी सामंती-समाज की पुष्टि करनेवाले जाति-व्यवस्था और वर्णाश्रम धर्म के विरोध में जानेवाला आंदोलन है। परंतु यह भी ध्यान में रखनेवाली बात है कि कुछ पूर्ववर्ती आलोचक भक्ति-आंदोलन को सामंती व्यवस्था की पुष्टि करनेवाला तथा वर्णाश्रम धर्म को महत्व देनेवाला आंदोलन बताते हैं। कुछ अन्य आलोचकों के अनुसार मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन में केवल "निर्गुण भक्ति" ही जाति व्यवस्था और सामंती व्यवस्था के विरुद्ध में है, और "सगुण भक्ति" में जाति-व्यवस्था के समर्थक तत्व पाये जाते हैं। कुछ अन्य आलोचक भक्ति-आंदोलन की प्रतिष्ठा को केवल उसका "लोकजीवन" पक्ष के कारण ही बताते हैं। परंतु परवर्ती सभी आलोचक इसे उच्च वर्ग एवं वर्ण के विरुद्ध निम्न वर्ग एवं वर्ण का विद्रोह बताते हैं।

इतने सारे मतभेद इसलिए हैं कि मध्ययुगीन सामाजिक व्यवस्था में अनेक अंतर्द्वन्द्व थे। इन द्वन्द्वों का प्रभाव समकालीन साहित्यकारों पर पड़ना भी स्वाभाविक है। ऐसे अंतर्विरोध तुलसी में हमें अधिक मिलते हैं। पूर्ववर्ती साहित्यकारों ने इन अंतर्विरोधों की ओर अपनी दृष्टि नहीं डाली थी। इसलिए वे भक्ति-आंदोलन का

एकांगी व्याख्या करके संतुष्ट थे। परंतु परवर्ती व्याख्याकारों को इसके दोनों पहलुओं पर बराबर ध्यान था और वे लोग मध्यकाल के समस्त भक्त-कवियों के और समाज के अंतर्विरोधों को पकड़ने में समर्थ रहे।

अब प्रश्न यह उठता है कि भक्ति-आंदोलन "सामंत-विरोधी आंदोलन" है तो, सामंतों ने इसका विरोध क्यों नहीं किया, जो सत्ताधारी थे। इसके जवाब में यही कहा जा सकता है कि सामंती राजा इस आंदोलन के जन-व्यापी प्रभाव को देखकर उसके विरोध में जाने के बजाय उसके पक्ष में जाने में ही अपने हित को देखता था, क्योंकि "भक्ति" का प्रचार-प्रसार समाज में शाँति-व्यवस्था को सुस्थिर रखता था, जिससे शासक वर्ग को ही एक काम से ﴾समाज में शाँति को बनाये रखने के काम से﴿ मुक्ति मिलती थी। और चालाक सामंती समाज, अपनी कुटिल विचार-धारा द्वारा जनता के ईश्वर के प्रति समर्पण की भावना को अपनी ओर मोड लेने के प्रयत्न भी करता रहा। यही कारण है कि इतने बड़े पैमाने पर उठनेवाले इस भक्ति-आंदोलन का सत्ताधारी वर्ग ने कहीं भी विरोध नहीं किया।

मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन में एक और विशेष बात यह है

कि इसमें कहीं भी हिन्दू-मुसलमान के परस्पर विरोध के भाव नहीं दिखाई देते हैं जबकि शासक मुसलमान बड़े अत्याचारी थे और अधिक कर वसूल करनेवाले पदाधिकारी अत्यंत शोषक भी थे। इसका कारण यही है कि यह सब शोषण राजनीतिक एवं प्रशासकीय स्तर पर था। भक्त कवियों एवं भक्तों के बीच इसका कोई असर आपसी वैमनस्य के सतह पर नहीं था, जिसका प्रतिनिधित्व एकेश्वरवादी आंदोलन करता है।

विद्वानों के कहे अनुसार, ज्यादातर विरोध तो हिन्दू-धर्म के अपने वर्णों के बीच ही था, जैसे ब्राह्मण-शूद्र का टकराव तथा छुआछूत भी इसी में थी। निर्गुण-सगुण का भेद भी इसमें काफी अरसे तक चलता रहा। वे लोग अपने धर्म में स्थित भेद भावों व द्वन्द्वों में फँसे थे जबकि कबीर, दादू, रैदास, नानक, आदि निर्गुण पन्थी संत इस झमेले से दूर भी थे, और इसकी बुराइयों से वाकिफ़ भी। इन पर इस्लाम के एक ही ईश्वर संबंधी विचार का प्रभाव भी था। सबसे बड़े महत्व की बात यह है कि भक्ति-आंदोलन में प्रेम-पंथ के द्वारा अपना महत्वपूर्ण योगदान देनेवाले सूफ़ी संत स्वयं इस्लाम-धर्म की कट्टरता के विरोधी थे।

जायसी आदि सूफ़ी महात्माओं ने हिन्दू प्रेमाख्यानों को अपना काव्य विषय बनाया, साथ ही इस्लाम धर्म कभी छुआ-छूत, ऊँच-नीच का भेद-भाव भी नहीं रखता है।

मध्ययुगीन शोषक सामंती समाज में एक ऐसी विचारधारा की आवश्यकता थी जो मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखकर, समस्त मनुष्य जाति से प्रेम करने की क्षमता रखती हो और वैसी क्षमता "भक्ति" में दृष्टिगोचर होती है जो मध्ययुगीन प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति थी और जो भक्ति-आंदोलन की मूलभूत विचार प्रणाली थी।

इस प्रकार युगीन सामाजिक विचार ही ऐसे थे, जो भक्त कवियों द्वारा आत्मसात किये जाकर, समाज के सामने काव्य रूप में पुनः प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

x x x

चतुर्थ अध्याय

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भक्ति-आंदोलन

चतुर्थ अध्याय

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भक्ति-आंदोलन

(क) भौतिकवाद

(ख) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

(ग) ऐतिहासिक भौतिकवाद अथवा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या

1. आधार

2. अधिरचना

(घ) वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत

(च) ऐतिहासिक भौतिकवाद और भक्ति-आंदोलन

निष्कर्ष

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भक्ति-आंदोलन

भौतिकवाद

भौतिकवाद की अवधारणा, जो प्राचीन काल से ही अस्तित्व में थी, 19 वीं शती में पूर्ण रूप से विकसित होकर समस्त संसार में व्याप्त हो चली है। इसकी व्याप्ति का श्रेय जर्मनी के भौतिकवादी दार्शनिक-द्वय कार्लमार्क्स एवं फ्रेडरिक एंगेल्स को प्राप्त होता है।

मनुष्य-समाज एवं समस्त प्रकृति को भौतिकवादी दृष्टि से देखनेवाले मार्क्स ने हीगेल के द्वन्द्ववाद के सिद्धांत से प्रभावित होकर, "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" नाम से एक नया दार्शनिक सिद्धांत को प्रतिष्ठित किया। हिन्दी साहित्य कोश में इस "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" की व्याख्या इस प्रकार दी गयी है, "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद दर्शन की दो विभिन्न धाराओं से संबंधित है। जहाँ तक इसकी प्रणाली का संबंध है, यह हीगेल के द्वन्द्वात्मक आदर्शवाद से प्रभावित हुआ है और जहाँ तक दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रश्न है, द्वंद्वात्मक भौतिकवाद अन्य पूर्ववर्ती भौतिकवादियों के अतिरिक्त जर्मन दार्शनिक फायरबाख के यान्त्रिक भौतिकवाद अर्थात् "मैकेनिकल मैटीरियलिज्म" से प्रभावित हुआ है।"[1]

अर्थात् द्वन्द्ववाद को हीगेल से एवं भौतिकवाद को फायरबाख

---

1. "हिन्दी साहित्य कोश" - भाग-1 प्रधान संपादक: धीरेन्द्र वर्मा पृ॰ 377

से ग्रहण कर मार्क्स ने इन दोनों का एक सुव्यवस्थित रूप "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" नाम से प्रतिष्ठित किया।

फ्रेडरिक एंगेल्स ने स्वयं कहा है कि "मार्क्स और मैं दो ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने सचेतन द्वन्द्ववाद को जर्मन भाववादी दर्शनशास्त्र से मुक्त करके उसे प्रकृति तथा इतिहास को भौतिकवादी अवधारणा पर लागू किया है।"

यही "मार्क्सवाद" के नाम से जाना जाता है, जो इतिहास की भौतिकवादी धारणा को प्रस्तुत करता है।

हीगेल के दर्शन को नया रूप देने की आवश्यकता मार्क्स और एंगेल्स को इसलिये महसूस हुई थी कि हेगेलीय दर्शन आदर्शवादी दर्शन था, जो विश्व में आत्मा के अस्तित्व को महत्व देता था और "विचार" को प्रथम मानता था। एंगेल्स इसकी आलोचना करते हुए कहते हैं कि "प्राकृतिक दर्शन ने विशेषकर हीगलीय रूप में इसलिए गलती की थी कि वह यह मानने को तैयार नहीं था कि प्रकृति का कालानुसार किसी प्रकार का विकास हुआ है; वह प्रकृति में किसी प्रकार का अनुक्रम नहीं, बल्कि केवल सह-अस्तित्व ही देखता था। यह मत एक ओर तो स्वयं हीगलीय प्रणाली पर आधारित था, जो मानती थी कि प्रगतिशील ऐतिहासिक विकास का श्रेय केवल "आत्मा" को ही है; दूसरी

---

1. फ्रेडरिक एंगेल्स :"ड्यूहरिंग मतखण्डन," दूसरे संस्करण की भूमिका से पृ. 20

और उसका कारण उस काल में प्राकृतिक विज्ञान की विविध शाखाओं की सम्पूर्ण स्थिति थी।"[1]

मार्क्सवाद प्रकृति को स्थिर, अचल नहीं मानता, उसको भी गतिशील मानता है और उस गति को अव्यवस्थित नहीं, सुव्यवस्थित नियमों से संचालित मानता है। और वह "पदार्थ" के अस्तित्व को प्रथम मानता है और "विचार" को इन भौतिक पदार्थों के आधार पर ही उत्पन्न मानता है। समस्त प्रकृति एवं जगत के अध्ययन के पश्चात् मार्क्स अपने सिद्धांतों को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं --

1. द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद
2. ऐतिहासिक भौतिकवाद अथवा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या
3. वर्ग-संघर्ष

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद :

पहले ही कहा जा चुका है द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद "द्वन्द्ववाद" एवं "भौतिकवाद", दो भिन्न धाराओं से बना शब्द है। द्वन्द्ववाद

---

1. फ्रेडरिक एंगेल्स : "ड्यूहरिंग मतखण्डन", दूसरे संस्करण की भूमिका से, पृ. 22 - 23

के अनुसार प्रत्येक वस्तु में दो विरोधी तत्व होते हैं, जिसके बीच निरंतर संघर्ष चलता रहता है, और इसी संघर्ष से उस वस्तु में एक नई स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो उस वस्तु को विकासमान स्थिति होती है। इस प्रकार सृष्टि के प्रत्येक कण में द्वन्द्व चलता रहता है।

हीगल ने द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को समझाने के लिए वाद, विवाद, संवाद तीन रूपों को बताया है। राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में इसकी व्याख्या बहुत स्पष्ट है —

"1. वाद -- जीवभूत है।
2. प्रतिवाद -- जीवभूत नहीं, बिलकुल अलग चेतन तत्व है।
3. संवाद -- जीव न भूत है, न अलग तत्व है बल्कि वह भूत के गुणात्मक परिवर्तन से उत्पन्न एक नया तत्व है।"[1]

आगे राहुल जी इसका विस्तार देते हुए कहते हैं, ""भाषण" में द्वन्द्ववाद वह प्रक्रिया है जिसमें परस्पर दो विरोधी मतों के संघर्ष के बाद हम सत्य तक पहुँचते हैं। "प्रकृति" में द्वन्द्ववाद का अर्थ है, अपने भीतरी स्वभावों के द्वन्द्व से प्रकृति का एक तीसरे रूप में विकसित होना -- हाइड्रोजन के प्राणमीडक तथा आक्सीजन के प्राणदायक तत्वों से तीसरे तत्व "जल" का निर्माण। "विचारक्षेत्र"

---

1. राहुल सांकृत्यायन : "वैज्ञानिक भौतिकवाद," पृ. 132

में इस प्रक्रिया का अर्थ है, दो विरोधी विचारों के द्वन्द्व से तीसरे विचार पर पहुँचना।"[1]

इस प्रकार द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की अंतिम परिणति एक नई स्थिति की उत्पत्ति से होती है। यह नई स्थिति पुरानी स्थिति से हर संभव बेहतर होती है। अगर यह प्रगतिशील न होती तो मानव जाति की आज की यह प्रगति असंभव होती थी।

ऐतिहासिक भौतिकवाद अथवा इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या:

मानव-समाज के विकास की स्थिति को "द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद" के परिप्रेक्ष्य में देखना और समझना ही ऐतिहासिक भौतिकवाद है। मार्क्स के अनुसार समाज का इतिहास भौतिक उत्पादन का इतिहास है तथा भौतिक उत्पादन-शक्तियों एवं उत्पादन संबंधों के बीच संघर्ष के कारण द्वन्द्व चलता रहता है। यह द्वन्द्व वर्ग-संघर्ष द्वारा ही समाप्त होता है।

मार्क्स ने मनुष्य-समाज के इतिहास की व्याख्या और भी

---

1. राहुल सांकृत्यायन : "वैज्ञानिक भौतिकवाद", पृ. 132

स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार की है — "इतिहास अलग-अलग पीढ़ियों की श्रृंखला के अलावा और कुछ नहीं है, इनमें से हर पीढ़ी तमाम पूर्ववर्ती पीढ़ियों से प्राप्त होनेवाली सामग्रियों, पूँजी तथा उत्पादक शक्तियों का उपयोग करती है; और इस तरह वह एक ओर पंरपरागत क्रियाकलाप को सर्वथा परिवर्तित परिस्थितियों में जारी रखती है और दूसरी ओर, पुरानी परिस्थितियों को सर्वथा परिवर्तित क्रियाकलापों से रूपांतरित करती है। इसे परिकल्पनात्मक ढंग से तोड़ा-मरोड़ा जा सकता है, ताकि बाद के इतिहास को पूर्ववर्ती इतिहास का लक्ष्य बनाया जा सके, उदाहरण के लिए अमरीकी खोज का लक्ष्य फ्रांसीसी क्रांति के विस्फोट को आगे बढ़ाना बताया जाता है। फलत: इतिहास को अपने विशेष लक्ष्य मिलते हैं तथा वह अन्य व्यक्तियों के साथ पंक्तिबद्ध व्यक्ति बन जाता है। वस्तुत: पूर्ववर्ती इतिहास की "नियति," "लक्ष्य," "बीज," "विचार" शब्दों का जो अर्थ बताया जाता है, वह आगे के इतिहास के उस सक्रिय प्रभाव के अमूर्तकरण के अलावा और कुछ नहीं होता जो पूर्ववर्ती इतिहास आगे के इतिहास पर डालता है।"[1]

---

1. कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स : "संकलित रचनाएँ," खण्ड-1, भाग-1, पृ. 44

मार्क्स ने इतिहास को पीढ़ियों की श्रृंखला बताया है। पीढ़ी दर पीढ़ी में उत्पादक क्रियाकलापों का वितरण होता है तथा उनमें परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार रूपांतरण भी होता रहता है। मार्क्स की इस दृष्टि के अनुसार भी निष्कर्ष यही निकलता है कि पीढ़ियों का इतिहास अर्थात् सामाजिक इतिहास उत्पादन के कार्यकलापों का इतिहास है, जो युगानुरूप परिवर्तन लेते हुए आगे बढ़ता रहता है। यह ऐतिहासिक गति की प्रक्रिया निरंतर चलायमान है। इस प्रकार पूर्ववर्ती इतिहास का परवर्ती इतिहास पर अपने प्रभाव डालते जाने के इस क्रम में मार्क्स ने मानव-इतिहास में सभ्यता के चार दशाओं को बताया है, जो इस प्रकार हैं —

1. दास-प्रथा
2. सामंती व्यवस्था
3. पूँजीवादी व्यवस्था
4. साम्यवादी व्यवस्था

मार्क्सवाद के अनुसार, ये चार अवस्थाएँ, उत्पादन के चार अलग-अलग सोपान हैं। उन्होंने बताया है कि "शोषण का पहला रूप दास-प्रथा था, जो प्राचीन काल के लिए विशिष्ट था। उसके

बाद मध्ययुग में भू-दास-प्रथा और आधुनिक काल में उजरती श्रम की प्रथा आयी। अधीनता के ये तीन महान रूप सभ्यता के तीन महान युगों के अभिलक्षण थे -- खुली , और बाद में छिपी दासता बराबर उसके साथ-साथ आयी है।"[1]

ये तीन अवस्थाएँ एक के बाद एक समाज में स्थान पाने के लिए प्रत्येक अवस्था के बीच के विरोधी तत्वों में परस्पर संघर्ष चलता रहा, पश्चात् क्रांति द्वारा दूसरी अवस्था, जो पुरानी से नितांत भिन्न थी, का उदय होता है। इस प्रकार "क्रांति के सिद्धांत" द्वारा नयी व्यवस्थाओं की उत्पत्ति बताकर मार्क्सवाद एक और महत्वपूर्ण सिद्धांत प्रस्तुत करता है। मानव सभ्यता के चौथे सोपान में साम्यवादी समाज व्यवस्था (साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था) का रूप भी मिलता है। पश्चात् मार्क्स ने यहाँ तक की कल्पना की है कि विकास की एक दशा में "वर्गरहित समाज" की स्थापना भी संभव है।

जब समाज इस प्रकार अनेक दशाओं से गुजरता है, तो उस समय समाज के विभिन्न उत्पादन प्रणालियों में भी परिवर्तन होते

---

1. कार्लमार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स: "संकलित रचनाएँ," खण्ड-3, भाग-2, पृ. 206

हैं। अर्थात् दास-प्रथावाले समाज में उत्पादन पद्धति सामंतवादी उत्पादन प्रणाली से भिन्न थी। उसी प्रकार पूँजीवादी समाज की उत्पादन पद्धति सामंतवादी समाज से भिन्न और साम्यवादी समाज की पूँजीवादी समाज से भिन्न उत्पादन पद्धतियाँ होती हैं।

आधार :-

जैसे जैसे युगानुरूप मानव समाज की माँगे बढ़ती रहती हैं, उन्हीं के अनुसार मानव विकास तथा नवीन उत्पादन पद्धतियाँ और उत्पादन संबंधों में भी परिवर्तन आते रहते हैं। समाज में स्थान पानेवाली ये आर्थिक गतिविधियाँ समाज की अन्य पहलुओं को भी प्रभावित करती हैं, अर्थात् आर्थिक आधार में परिवर्तन ही अधिरचना में परिवर्तनों का कारण बनते हैं।

अधिरचना :-

हमने पहले ही इसका उल्लेख कर दिया है कि राजनीति, दर्शन, संस्कृति, धर्म, कानून, कला संबंधी सामाजिक विधान अधिरचना के अंतर्गत माने जाते हैं। आर्थिक आधार में होनेवाले परिवर्तनों के कारण अधिरचना में परिवर्तन संभव होते हैं -- यह मार्क्सवादी मान्यता है। कभी ऐसे मौके भी आते हैं, जब

अधिरचना आधार को प्रभावित कर सकती है। इस प्रकार आधार और अधिरचना परस्पर संबंध रखते हैं। मार्क्स के अनुसार आधार और अधिरचना के बीच संबंध इस प्रकार होते हैं -- "सामाजिक उत्पादन की प्रक्रिया में, मनुष्य विभिन्न प्रकार के संबंधों का सामना करते हैं, जो अपरिहार्य और मनुष्यों की इच्छा से स्वतंत्र होते हैं। ये उत्पादन के साधन, एक विशिष्ट विकास के सोपान को प्रमाणित करते हैं। उत्पादन के साधन और संबंधों से, समाज के आर्थिक आधार निर्मित हैं; जिसके ऊपर या जिसके अनुरूप राज-नैतिक और विधि व्यवस्था बनती है, सामाजिक ४दर्शन, धर्म, कला, साहित्य आदि४ चेतना का विकास होता है। आर्थिक उत्पादन के साधन और संबंध, सामान्यतः, मनुष्यों के सामाजिक, राजनैतिक तथा बौद्धिक जीवन की प्रक्रियाओं को प्रतिवर्तित ४कंडीषंड४ करते हैं। मानवों की चेतना से उनकी जीवन विधि या अस्तित्व विधि नियमित नहीं होती, वरन् सामाजिक या भौतिक जीवन विधि से, मनुष्यों की चेतना का स्वरूप नियमित होता है। विकास की एक विशिष्ट स्थिति में, उत्पादन के साधनों में परिवर्तन होने से, उत्पादन संबंधों में भी परिवर्तन हो जाता है। यथा, नवीन तकनीक के विकास के पश्चात् सामन्ती युगीन पिछड़ी तकनीक का निषेध होते ही, नवीन प्रकार के उत्पादन संबंध बनते हैं। सामंतवाद के भूस्वामी और भूदासों तथा स्वतंत्र

शिल्पियों के स्थान पर, सर्वहारा श्रमिकों और कारखानेदारों का उदय होता है। परिणामत: सामंती युग के सामाजिक संबंध भी बदलने लगते हैं, तदनुरूप समाज की ऊपरी मंजिल या दर्शन, धर्म, विधि, साहित्य आदि भी बदलते हैं।[1]

इस प्रकार मानव-समाज की सभ्यता के विकास में मनुष्यों के बीच संबंधों में भी द्वन्द्व चलता रहता है। जहाँ समाज में उत्पादन शक्तियाँ, उत्पादन संबंधों के दो अलग-अलग स्वार्थ होते हैं, वहाँ "वर्ग" स्थापित हो जाते हैं और वर्ग-संघर्ष जन्म ले लेते हैं। मार्क्स ने इस वर्ग-संघर्ष को अत्यंत महत्व दिया है।

वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत :-

"वर्ग-संघर्ष" मार्क्सवाद की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। अपने "कम्यूनिष्ट पार्टी के घोषणा पत्र" लेख में मार्क्स और एंगेल्स ने कहा कि "अभी तक आविर्भूत समस्त समाज का लिपिबद्ध इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है। स्वतंत्र मनुष्य और दास, पेट्रीशियन और प्लेबियन (PLEBION) सामंत और भू-दास, शिल्प-संघ का उस्ताद-कारीगर और मजदूर-कारीगर, संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीड़ित बराबर एक दूसरे का विरोध करते आये हैं। वे कभी छिपे, कभी प्रकट रूप से लगातार एक दूसरे से लड़ते रहे हैं; जिस लड़ाई का अंत हर बार या तो पूरे समाज के क्रांतिकारी

---

1. मार्क्स, एंगेल्स : "आन लिटरेचर अंड आर्ट्स" पृ. 4।

पुनर्गठन में या संघर्षरत दोनों ही वर्गों की बरबादी में हुआ है।"[1]

मार्क्स और एंगेल्स ने समस्त इतिहास को वर्ग-संघर्षों का इतिहास बताया है। मतलब यह हुआ कि समाज में वर्गों का अस्तित्व बहुत पहले से ही रहा था और उन वर्गों के बीच निरंतर संघर्ष भी चलता रहा, और आज के समाज की इस स्थिति तक प्रगति करता आया। इन्होंने बताया है कि इन वर्गों में आये दिन चलती रहनेवाली इस लड़ाई के कारण कभी कभार दोनों वर्ग नष्ट हो जाते थे, तो कभी इसका अंत एक नये समाज की स्थापना द्वारा भी होता था। आगे इन्होंने बताया है कि "इतिहास के विगत युगों में हम प्राय: हर जगह विभिन्न सामाजिक श्रेणियों में विभाजित समाज का एक पेचीदा ढाँचा पाते हैं -- सामाजिक श्रेणियों की नानारूपी दर्जाबन्दी। प्राचीन रोम में पेट्रीशियन, नाइट, प्लेबियन और दास मिलते हैं। मध्ययुग में सामंती लार्ड, अधीन जागीरदार, उस्ताद-कारीगर, मज़दूर-कारीगर, भू-दास दिखाई देते हैं, और लगभग इन सभी वर्गों में गौण दर्जाबंदियाँ होती हैं।"[1]

यहाँ मार्क्स स्पष्ट कर देते हैं कि समाज में श्रेणियाँ होती हैं

---

1. मार्क्स, एंगेल्स : "कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र," पृ. 130

और इन श्रेणियों में अलग-अलग दर्जे होते हैं, इसीलिए इनमें भेद-भाव उत्पन्न होता है। प्राचीन काल में दास-प्रथा थी, मध्यकाल में भू-दास एवं सामंत थे, आधुनिक काल में पूँजीपति-मजदूर वर्ग हैं।

पूँजीपति-सामाजिक विधान को बताते हुए मार्क्स और एंगेल्स का कहना भी यहाँ उल्लेखनीय है, "आधुनिक पूँजीवादी समाज ने, जो सामंती समाज के ध्वंस से पैदा हुआ है, वर्ग विरोधों को खतम नहीं किया। उसने केवल पुराने के स्थान पर नये वर्ग, उत्पीडन की पुरानी अवस्थाओं के स्थान पर नई अवस्थाएँ, और संघर्ष के पुराने रूपों की जगह नये रूप खडे कर दिये हैं।"[1]

अर्थात् पुरानी सामाजिकार्थिक अवस्थाओं के स्थान पर नई अवस्थाओं के उत्पन्न होने पर भी वर्गों का अस्तित्व नहीं मिटता है और शोषण भी यथातथ्य होता रहता है। इन वर्गों के बीच संघर्ष भी चलता रहता है। इस प्रकार वर्ग-संघर्ष का क्रम जारी रहता है।

लेनिन रूस के देहातों में वर्ग-संघर्ष का विवरण देते हुए "वर्ग-संघर्ष" की परिभाषा इस प्रकार देते हैं, "वर्ग-संघर्ष क्या है ?

---

1. मार्क्स, एंगेल्स : "कम्यूनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र," पृ. 130

यह जनता के एक भाग का उसके दूसरे भाग के खिलाफ संघर्ष है, विशेष अधिकारवालों, उत्पीड़कों, परजीवियों के खिलाफ़ सारे अधिकार वंचितों, उत्पीड़ितों, श्रमिकों का संघर्ष है, संपत्ति के स्वामियों या बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ़ उजरती मज़दूरों या सर्वहाराओं का संघर्ष है। रूस के देहाती इलाक़ों में ये महासंघर्ष सदा चलता आ रहा है।"[1]

एक रूस के देहातों में ही क्या, जहाँ कहीं भी शोषक, शोषित वर्ग होते हैं, वहाँ वर्ग-संघर्ष अनिवार्य है।

मार्क्स का यह भी मानना है कि, जिस वर्ग का उत्पादन शक्तियों पर प्रभुत्व है, वह सत्ताधारी वर्ग होता है और उसी वर्ग का बौद्धिक शक्ति पर भी अधिकार होता है। मार्क्स के शब्दों में -- "सत्ताधारी वर्ग के विचार हर युग में सत्ताधारी विचार हुआ करते हैं, अर्थात् जो वर्ग समाज की सत्ताधारी भौतिक शक्ति होता है, वह साथ ही उसकी सत्ताधारी बौद्धिक शक्ति भी होता है। जिस वर्ग के पास भौतिक उत्पादन के साधन होते हैं, उसका, साथ ही साथ बौद्धिक उत्पादन पर भी नियंत्रण होता है, और इस तरह साधारणतया जिन लोगों के पास बौद्धिक

---

1. लेनिन : "संकलित रचनाएँ", खण्ड-2, पृ. 370

उत्पादन के साधन नहीं होते, उनके विचार इस वर्ग के अधीन रखे जाते हैं।"[1]

मार्क्स का आशय है कि समकालीन कला और साहित्य में भी इन्हीं प्रभुत्वशाली वर्ग के विचार ही प्रतिबिंबित होते हैं अथवा वर्गयुक्त समाज में वर्गयुक्त साहित्य ही पैदा होता है।

मध्यकालीन सामाजिक अवस्था और वर्ग-संघर्ष को "भक्ति-आंदोलन में वर्ग-संघर्ष" शीर्षक अध्याय में विवेचन किया जायेगा।

ऐतिहासिक भौतिकवाद और भक्ति-आंदोलन:

मार्क्स द्वारा विभक्त सामाजिक विकास के सोपानों में उत्तर-सामंतवादी सामाजिक अवस्था के युग में भक्ति-आंदोलन के विकास को देख सकते हैं। इसीलिए डी॰डी॰ कोसाम्बी जैसे मार्क्सवादी इतिहासकार "भक्ति" को सामंतवाद का समर्थक तत्व घोषित करते हैं।

भक्ति-आंदोलन के ऐतिहासिक विकास और महत्व को मध्य-कालीन सामंती समाज और जनता के परस्पर संबंधों के रूप में देखा

---

1. मार्क्स, एंगेल्स : "संकलित रचनाएँ", खण्ड-1, भाग-1, पृ॰ 55

जा सकता है, क्योंकि मार्क्सवाद के अनुसार उत्पादन शक्तियाँ सत्ताधारी वर्ग के हाथ में रहने के कारण उत्पादन कार्य में प्रत्यक्ष भाग लेने वाले अन्य सभी वर्गों को यह सत्ताधारी वर्ग खरीद लेता है अर्थात् अपने हाथ की कठपुतलियाँ बना लेता है। इन सभी बुराइयों की जड़ मध्यकालीन ह्रासोन्मुखी सामंती व्यवस्था और उससे जुड़ी हुई वर्णाश्रम व्यवस्था ही हैं। इसलिए इन अत्याचारों से छुटकारा पाने के लिए सर्वप्रथम इसी "जड़" पर प्रहार करने के सिवाय जन-साधारण के उत्थान का कोई और रास्ता नहीं था और जन-साधारण को वह अवसर मध्यकाल ही जुटाता है।

मध्यकाल में ब्राह्मणाधिपत्य के प्रति विद्रोह का स्वर एक निम्न जाति के सन्त कबीर से उठता है जो युगीन परिस्थितियों में अत्यंत महत्वपूर्ण बात है।

डॉ• विजेन्द्रनारायण सिंह कबीर के इसी विद्रोही स्वभाव को बताते हुए कहते हैं, "सौभाग्य से कबीर जाति के जुलाहा थे। इस जाति की गिनती अंत्यज में होती है। सौभाग्य से वे काशी में उत्पन्न हुए थे जो मध्यकाल में ब्राह्मणत्व का गढ़ था। ब्राह्मण-व्यवस्था के गढ़ में ही बैठकर वे ब्राह्मण व्यवस्था पर गोला बारी करते रहे। उन्होंने पहला प्रहार चातुर्वर्ण्य पर ही

किया। ब्राह्मणों ने चातुर्वर्ण्य पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाया था और तपस्यादि को ब्राह्मण और क्षत्रिय तक ही सीमित कर दिया था। उन्होंने इसके विरोध में नया मूल्य स्थापित किया। उन्होंने कहा -- "हरिजन सई न जाति" भक्त के समान कोई दूसरी जाति नहीं है। यानी जो भक्त है वह यदि अस्पृश्य भी है तब भी ब्राह्मणों से श्रेष्ठ है। इस प्रकार वर्णाश्रम की अन्यायपूर्ण व्यवस्था पर उन्होंने भक्ति के हथियार से प्रहार किया।"[1]

प्रश्न यह उठता है कि वह कौन सी ताक़त काम कर रही होगी जो ब्राह्मणत्व के गढ़ में बैठकर ब्राह्मणों पर प्रहार करने के लिए कबीर जैसे एक जुलाहा को बाध्य करती है।

इसका जवाब भी लेखक के उद्धरण में ही मिल जाता है कि "भक्ति" ही ऐसा हथियार था कि जिसके सहारे ब्राह्मणों पर सीधे प्रहार कर सकते हैं। "भक्ति" परंपरागत आचारप्रधान और कर्मकाण्ड तत्वों से अलग "नामस्मरण" पर बल देती है जिसकी मध्यकाल में सख़्त ज़रूरत थी।

मध्यकाल ब्राह्मण आधिपत्य का काल था और ये ब्राह्मण पंडितों ने कर्मकाण्डों के नाम पर जनता से धन ऐंठते थे और

---

1. डॉ. विजेन्द्रनारायण सिंह : "कबीर : ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह," -- हिन्दुस्तानी, भाग- 38, अंक 3-4, पृ. 245

उन्हें स्वर्ग-नरक पुनर्जन्म संबंधी अनेक भय दिखाकर निम्न जातियों को अपने गुलाम बनाये रखने पर तुले हुए थे। ब्राह्मण व्यवस्था के इस घोर अत्याचारी युग में भक्ति ही एकमात्र ऐसा रास्ता था, जो ब्राह्मणों के अधिकारों पर काबू रख सकता था। ऐसी "भक्ति" का सहारा लेकर ही निम्नजाति के कबीर इन कटु सामाजिक परिस्थितियों में ब्राह्मण-व्यवस्था के विरोध में आवाज़ उठाते हैं।

मध्ययुग में इस प्रकार वर्ण व्यवस्था की बुराइयों से सजग एवं असंतुष्ट समाज में इस्लाम धर्म का आगमन तथा मुसलमान शासन का होना एक संयोग की बात थी। क्योंकि "इस्लाम धर्म" में ऊँच-नीच के भेदभाव जन्म के आधार पर नहीं थे, वहाँ कर्म के अनुसार गुण-दोषों का निर्धारण किया जाता था, और तो और इस "धर्म" में अस्पृश्यता की भावना तो लेशमात्र के लिए भी नहीं है। ऐसा धर्म जो वर्णाश्रम धर्म के बिलकुल विरोध में जाता है, और जहाँ छुआछूत की भावना से सख़्त नफ़रत है, जनता को सोचने पर बाध्य करता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

जन-साधारण को जातिगत एवं वर्णगत भेदभावों से उत्पन्न नुकसानों का अनुभव पहले ही हो चुका है और अब इन भेद भावों

से दूर मनुष्य जीवन की तलाश में जनता का इस्लाम धर्म से प्रेरणा ग्रहण करना सहज ही है। इस प्रकार एक नया धर्म, जो मनुष्य को मनुष्य होने के धरातल पर देखता है तो उसका प्रभाव दूसरे धर्म के पददलित जन पर पड़ना ही था और वह हुआ मध्यकालीन समाज के साथ।

मध्यकाल में वर्णाश्रम-धर्म और जाति व्यवस्था के विरोध में जन-साधारण का विद्रोह उनके मनुष्य होने की चेतना का एक जीवंत सबूत है। इस चेतना को जन-साधारण में जगाने और उसे विद्रोह का रूप देने का श्रेय एकेश्वरवादी आंदोलन के महान नेता निर्गुण-संत कबीर को है जिन्होंने ऐसी प्रेरणा अपने पूर्ववर्ती नाथों से तथा समकालीन इस्लाम धर्म से अवश्य हासिल की थी।

आशय यह है कि इसका ऐतिहासिक महत्व निम्न जातियों का उच्च जातियों से संघर्ष करके, अपने सामाजिक स्तर में सुधार पाने के भौतिक लाभ हासिल करने में था।

मुक्तिबोध सगुण भक्ति को निर्गुण भक्ति की प्रतिक्रिया बताते हैं और निम्नजातीय निर्गुण सन्तों के जातिविरोधी आंदोलन को उच्चवंशीय सगुण भक्ति-आंदोलन द्वारा दबाया जाकर पुनः उच्च वर्णों का उस पर आधिपत्य की स्थापना को महत्व देते हैं।

उच्च वर्णों की अवसरवादिता की प्रवृत्ति के कारण ही भक्ति-आंदोलन में ब्राह्मण आधिपत्य एवं वर्णाश्रम धर्म को पुन: प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। लेखक के अपने शब्दों में "एक बार भक्ति-आंदोलन में ब्राह्मणों का प्रभाव जम जाने पर वर्णाश्रम धर्म की पुनर्विजय की घोषणा में कोई देर नहीं थी। यह घोषणा तुलसी दास जी ने की थी। निर्गुण मत में निम्नजातीय धार्मिक जनवाद का पूरा ज़ोर था, उसका क्रांतिकारी सन्देश था। कृष्णभक्ति में वह बिलकुल कम हो गया, किन्तु फिर भी निम्न जातीय प्रभाव अभी भी पर्याप्त था। तुलसीदास ने भी निम्नजातीय भक्ति स्वीकार की, किन्तु उसको अपना सामाजिक दायरा बतला दिया। निर्गुणमतवाद के जनोन्मुख रूप और उसकी क्रांति-कारी जातिवाद-विरोधी भूमिका के विरुद्ध तुलसीदास जी ने पुराणमतवादी स्वरूप प्रस्तुत किया। निर्गुणमतवादियों का ईश्वर एक था, किन्तु अब तुलसीदास के मनोजगत में परब्रह्म के निर्गुण स्वरूप के बावजूद सगुण ईश्वर ने सारा समाज और उसकी व्याख्या-- जो जातिवाद वर्णाश्रम धर्म पर आधारित थी -- उत्पन्न की।"[1]

मुक्तिबोध जी का आशय है कि भक्ति-आन्दोलन में एक समय पर निम्नवर्गीय निर्गुण पंथी संतों का महत्व था तो उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप सगुणमत का आविर्भाव और विकास निर्गुण मत को दबा

---

1. डॉ. गजानन माधव मुक्तिबोध : "नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध", पृ. 90

दिया। इस प्रकार एक क्रांतिकारी जन-आंदोलन का दूसरे प्रतिक्रियावादी वैचारिक आंदोलन ने नष्ट किया और उस पर अपना अधिकार जमा लिया।

इस भक्ति-आंदोलन के फलस्वरूप ही महाराष्ट्र और सिक्ख जाति का राजनीतिक रूप में उत्थान होता हुआ दिखाई देता है। मुक्तिबोध के विचार हैं कि "निम्नवर्गीय भक्तिभावना एक सामाजिक परिस्थिति में उत्पन्न हुई और दूसरी सामाजिक स्थिति में परिणत हुई। महाराष्ट्र में उसने एक राष्ट्रीय जाति खड़ी कर दी, सिख एक नवीन जाति बन गये। इन जातियों ने तत्कालीन सर्वोत्तम शासक वर्गों से मोर्चा लिया। भक्तिकालीन सन्तों के बिना महाराष्ट्रीय भावना की कल्पना नहीं की जा सकती और न सिख गुरुओं के बिना सिख जाति की। सारांश यह है कि भक्ति भावना के राजनैतिक गर्भितार्थ थे। ये राजनैतिक गर्भितार्थ तत्कालीन सामन्ती शोषक वर्गों और उनकी विचारधारा के समर्थकों के विरुद्ध थे।"[1]

इस प्रकार मुक्तिबोध भक्ति-आंदोलन को निम्नवर्ग के वर्णाश्रम विरोधी आंदोलन से उच्चवर्ण के सनातनी आंदोलन की ओर गतिमान

---

1. डॉ॰ गजानन माधव मुक्तिबोध : "नई कविता का आत्मसंघर्ष" तथा अन्य निबंध", पृ॰ 95

होते हुए बताते हैं और अंत में महाराष्ट्र एवं सिखों के एक राष्ट्रीय जाति के रूप में परिवर्तन के पीछे सन्तों की वाणी को प्रेरणास्रोत बताते हैं जिनकी बदौलत भक्ति-आंदोलन को अत्यंत महत्व प्राप्त हुआ था।

इतिहासकार डॉ॰ सतीश चन्द्र के विचार भी लगभग मुक्तिबोध के विचारों से मिलते जुलते हैं। एक तरफ वे जाति-व्यवस्थाक को जाटों के उत्थान में सहायक तत्व के रूप में चित्रण करते हैं तो दूसरी ओर ब्राह्मण और राजपूतों के परस्पर स्वार्थों की पूर्ति हेतु किये गये आपसी समझौते को भी महत्व देते हैं। अंत में ब्राह्मणों के प्रभावहीन होने के कारण ही असमातनी आंदोलनों के विकास को देखते हैं। ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाने में भारत में इस्लाम के आगमन को कारण ठहराते हैं, जो इस प्रकार है, "इस्लाम के आगमन से ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा और प्रभाव को गहरा आघात लगा। ब्राह्मणों ने प्राय: भोली भाली जनता द्वारा पूजी जानेवाली प्रतिमाओं को ईश्वर के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत न करके प्रतिमाओं को ही स्वयं ऐसे ईश्वर के रूप में प्रस्तुत किया, जिन्हें ब्राह्मण ही नियंत्रित कर सकते हैं तथा इन प्रतिमाओं की शक्ति और महत्व को सन्देह करनेवालों को शाप दे सकते हैं। इन प्रतिमाओं को विधर्मी तुर्कों ने पैरों तले रौंदकर गिरा दिया और ब्राह्मणों

और मंदिरों के अन्य सेवकों की या तो हत्या कर दी गयी या भगा दिये गये। तुर्कों की कोई हानि नहीं हुई। अनेक मन्दिरों द्वारा नियंन्त्रित धन और सम्पत्ति के खोने से ब्राह्मणों को भौतिक रूप से भी क्षति पहुँची है।"[1]

अर्थात् समाज में जैसे ही ब्राह्मणों का कोई महत्व नहीं रह गया, उस समय अन्य जाति विरोधी आंदोलनों को अधिक अवसर प्राप्त हुआ था और एकेश्वरवादी आंदोलन के विकास पाने में भी यह सहायक रहा।

जाटों के विद्रोह को डॉ॰ सतीशचन्द्र अपने "पार्टीज एण्ड पॉलिटिक्स एट दि मुगल कोर्ट" नामक ग्रंथ में बताते हैं जो इस प्रकार है, "फ़ौजदारों के अत्याचारों से असन्तुष्ट जाट मुगल फौज़दारों के खिलाफ़ सैनिक हथियार उठाये थे, जिसका नेतृत्व जमींदारों ने किया और इन्हें आपस में जोड़े रखने की शक्ति उनके जातिपरक भाव में थी।"[2]

इसी संदर्भ में इतिहासकार डॉ॰ इरफ़ान हबीब के विचारों का उल्लेख करना उचित होगा। इस दिशा में इरफ़ान हबीब के

1· डॉ॰ सतीश चन्द्र : "उत्तर भारत में भक्ति-आंदोलन के उदय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि," "आलोचना," जनवरी-मार्च 86, पृ॰20

2· डॉ॰ सतीश चन्द्र: "पार्टीस एण्ड पॉलिटिक्स एट दि मुगल कोर्ट", पृ॰ xxxvi

विचारों को उनके ग्रंथ "दि अग्रेरियन सिस्टम आफ मुगल इंडिया" में देख सकते हैं, जिसका संक्षिप्त तात्पर्य इस प्रकार है --

मध्यकालीन भारतीय कृषिविधान में किसानों को उत्पादन के अतिरिक्त भाग ﴾जो जीने भर की आवश्यकताओं की पूर्ति के पश्चात बचा हुआ अतिरिक्त भाग﴿ से वंचित कर, इस भाग को 'भूमिकर' के रूप में राज्य के नाम पर बलपूर्वक लिया जाता था और जागीरदारों की तबादलेनुमा विधान के कारण भी किसानों का बेदर्दी से शोषण किया जाता था। इन परिस्थितियों में किसानों के पास कोई समझौते का रास्ता नहीं था सिवाय इसके कि वे वहाँ से भाग निकलते अथवा भूखों मर जाते या फिर सैनिक शक्ति को प्राप्त कर विद्रोह का रास्ता अपनाते। इन हालातों में किसानों के बीच कुछ सामाजिक शक्तियाँ काम कर रही थीं जो कि अपने संकुचित जातिगत एकता में इन्हें बाँधे रख सकती थी। इनके विद्रोह का नेतृत्व जमींदारों ने किया, जिन्हें अपने स्वार्थों की पूर्ति जो करनी थी।"[1]

इसी प्रकार सतनामी, सिख और मराठा आंदोलनों में भी धर्म का स्थान रहा जिसे हम मुक्तिबोध जी के संदर्भ में देखते हैं।

---

1. डॉ. इरफान हबीब: "दि अग्रेरियन सिस्टम आफ मुगल इंडिया" पृ. 190, 341.

ये जाट-किसान, और सतनामी, सिख तथा मराठा आदि वर्ग अपने सामाजिक स्तर को बढ़ाने के उद्देश्य से अपने-अपने जातिपरक एवं धर्मपरक दायरों में बंधकर एक सामाजिक शक्ति के रूप में उदित होकर अपने सामाजिक और आर्थिक शोषण के खिलाफ विद्रोह करते हैं और उसके पश्चात् ये आंदोलन राजनीतिक रूप धारण कर राज्यशक्ति के रूप में स्थिर हो जाते हैं जिसके उदाहरणस्वरूप हम सिखों और मराठों के धार्मिक-सामाजिक आंदोलनों का विकास राजनीतिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने में देखते हैं।

इस प्रकार भक्ति-आंदोलन का ऐतिहासिक विकास जमींदारों के भौतिक स्वार्थों और कृषक, व्यापारी वर्गों के अपने सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने हेतु किये गये विद्रोहों के रूप में पाते हैं। इसमें एकेश्वरवादी आंदोलन की प्रेरणा काम करती है।

डॉ. रामविलास शर्मा जैसे आलोचक इसके ऐतिहासिक महत्व को 16 वीं सदी में सामन्ती व्यवस्था के कमज़ोर पडने और "उसके भीतर पैदा होनेवाली नई शक्तियों के प्रसार से उसके विघटित होने में"[1] देखते हैं।

---

1. रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ. 75

लेखक का आगे मानना है कि सामंती व्यवस्था के कमज़ोर पड़ने के कारण ही, संस्कृत के स्थान पर जन-भाषाओं का प्रभुत्व बढ़ जाना और पुरोहितों के चंगुल से छुटकारा पाकर जन-संस्कृति का पनपना, पुरोहितों को चुनौती देने योग्य शक्ति प्राप्त करना आदि को संभव बताते हैं।

सामंती ढाँचे को कमज़ोर करनेवाली मध्यकालीन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों को और भी स्पष्ट रूप में रामविलास-शर्मा जी इस प्रकार बताते हैं -- "16 वीं सदी के लगभग -- शेरशाह और अकबर के शासनकाल में -- उत्तर भारत में सामंती व्यवस्था काफी कमज़ोर हुई। नहरें खुदने और सड़कें बनने से यातायात में उन्नति हुई; एक ही तरह की मुद्रा के चलन से व्यापार में सुविधा हुई। राज्य और काश्तकार में सीधा-संबंध स्थापित होने से जनपदों का अलगाव कम हुआ; बारूद के इस्तेमाल से केन्द्रीय राजसत्ता जागीरदारों की स्वच्छंदता कम करके उन्हें अपने मातहत कर सकी; यूरोप में भारत का व्यापार बड़े पैमाने पर आगे बढ़ा; ... जगह-जगह अपने अधिकारों के लिए जनता ने संघर्ष किये और इस तरह भी इसकी एकता बढ़ी। इन परिस्थितियों में सामंती ढाँचा जर्जर हुआ। उस ढाँचे के भीतर व्यापारियों द्वारा पैदा किये पूँजीवादी संबंध जन्म लेने लगे। पुराने जनपदों का अलगाव काफ़ी दूर हुआ और वे मिलकर एक

जाति §नेशन§ के रूप में संघटित होने लगे। भक्ति-आंदोलन इस जातीय आंदोलन का साँस्कृतिक प्रतिबिंब था। इस जातीय आंदोलन में भाग लेनेवाले व्यापारी, जुलाहे, कारीगर, किसान आदि थे। इनको एकता की चाह, सामंती अलगाव को दूर करके मिलने की चाह भक्ति-आंदोलन में प्रकट हुई।"[1]

इस प्रकार देखा जा सकता है कि भक्ति-आंदोलन सामंती अलगाव को दूर करके, तद्द्वारा समाज के सभी निम्न वर्गों में एकता की भावना को जगानेवाला एक जन-आंदोलन के रूप में उभरता है, जिसमें जातीयता के चिह्न स्पष्ट प्रकट होते हैं।

निष्कर्ष:

मध्यकालीन भक्ति-साहित्य में सत्ताधारी वर्ग के खिलाफ भी विचार व्यक्त किये गये और उसके पक्ष में भी। कबीर आदि निर्गुण भक्तों के विचार इसी प्रभुत्वशाली वर्ग की विचार-धारा के विरोध में थे, तो तुलसी जैसे सगुण-भक्तों के विचार दोनों पक्षों में, अर्थात् सामंतविरोधी, ब्राह्मणविरोधी और सामंतवादी, ब्राह्मणवादी -- दोनों पक्षों में थे। परन्तु स्वयं

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा; "परंपरा का मूल्यांकन", पृ. 75-76

तुलसीदास किसी सामंती राजा के राजाश्रयी कवि न होकर एक स्वतंत्र कवि थे जिनका मकसद लोककल्याण और भगवद्भक्ति ही था। वैसे देखा जाय तो सभी भक्तकवि स्वतंत्र थे और किसी राजसत्ता के सामने कभी नहीं झुकनेवाले थे।

दूसरे, मध्यकाल में एक तरफ़ जातिव्यवस्था की बुराइयों से पीड़ित जनता उसके प्रति विद्रोह करती है, तो दूसरी तरफ इसी जाति-व्यवस्था के संकुचित भेदभावों से ही लाभ उठाकर कुछ वर्ग आपस में संगठित होते हैं, तद्वारा वे अपने सामाजिक स्तर को ऊपर उठाते हैं।

मध्यकाल का तीसरा अन्तर्विरोध यह है कि यहाँ एक ही धर्म के निम्न एवं उच्च जातियों के निरंतर एक दूसरे पर प्रहार कर, ऊपर उठने के प्रयत्न चलते रहे, जो भक्ति-आंदोलन के विकास में अनेक उतार-चढ़ाओं के साथ अनेक दबाव भी उत्पन्न हुए थे। इन्हीं दबाओं के कारण भी भक्ति-आंदोलन का वह क्रांतिकारी रूप पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाया था।

इस प्रकार भक्ति-आंदोलन के ऐतिहासिक विकास में अनेक दुहरे विचारों में संघर्ष के बावजूद, यही द्वन्द्वात्मकता इसे

प्रगति की दिशा में ले जाती है और यह विराट भक्ति-आंदोलन निम्न जातियों में आत्मविश्वास जगाने के साथ साथ उनके उत्थान में भी कामयाब होता है।

x x x

पंचम अध्याय

भक्ति-आंदोलन में वर्ग-संघर्ष

पंचम अध्याय

भक्ति-आंदोलन में वर्ग-संघर्ष

(क) वर्ग-संघर्ष

(ख) वर्ग-संघर्ष -- भक्ति-आंदोलन

1. अर्थपरक संघर्ष
2. जातिपरक संघर्ष
3. धार्मिक संघर्ष
4. वृत्तिपरक संघर्ष
5. सामंत-किसान संघर्ष

भक्ति-आंदोलन में वर्ग-संघर्ष

वर्ग-संघर्ष :-

"वर्ग-संघर्ष" मार्क्सवाद की एक महत्वपूर्ण अवधारणा है। मार्क्सवाद समाज में दो ही वर्गों के अस्तित्व को मानता है, वह है, एक संपन्नशाली वर्ग और दूसरा संपन्नहीन वर्ग। ये ही दो वर्ग शोषक-शोषित तथा उच्च एवं निम्न वर्ग के नामों से भी प्रचलित हैं।

"वर्ग" उस विशेष समुदाय को कहते हैं, जिनके स्वार्थ एक हो, उत्पादन कार्य में जिनकी एक समान स्थिति हो, और जिनके आर्थिक उन्नति के स्रोत एक हो। एक वर्ग वह है जो उत्पादन कार्य में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेता है, मगर उस कार्य पर पूरा अधिकार रखता है, उससे उत्पन्न सभी प्रकार की आमदनी का अधिकारी होता है, और दूसरा वर्ग ऐसा होता है कि उत्पादन कार्य से उसका सीधा संबंध रहता है, मगर उससे उत्पन्न संपत्ति पर उसका कोई अधिकार नहीं रहता और उसे जिन्दा-भर रहने मात्र का दिया जाता है। इन्हीं दो वर्गों को क्रमश: शोषक और शोषित नाम दिया गया है। संपत्तिशाली वर्ग के संपन्नवान होने के मूल में संपत्तिहीन वर्ग का श्रम निहित है। उसी प्रकार संपत्तिहीन वर्ग की दुस्थिति के मूल में उच्च वर्ग का शोषण कार्यरत

है। इस प्रकार समाज में दो भिन्न-भिन्न आर्थिक स्थिति के भागीदार दो वर्ग, जो एक दूसरे पर पूरी तरह निर्भर हैं, के बीच संघर्ष चलता रहता है। विशेषकर शोषित वर्ग, शोषक वर्ग से असंतुष्ट रहता है, वह अपनी स्थिति में सुधार चाहता है, इसी सुधार के लिए उसे उच्च वर्ग से संघर्ष करना पड़ता है। साथ ही साथ शोषक वर्ग भी अपनी स्थिति में और ज्यादा बढ़ोत्तरी के लिए ज्यादा से ज्यादा शोषण करता है, इसलिए इस वर्ग के पास अपनी जरूरतों से ज्यादा धन जमा हो जाने के कारण, वह विलासिता में डूब जाता है। यह विलास प्रवृत्ति जिसमात्रा में बढ़ती जाती है, उन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वे उसी मात्रा में निम्न वर्ग का शोषण करते रहते हैं। जब यही शोषण की स्थिति सीमा पारकर जाती है, उसी समय संघर्ष का रूप तीव्रतर हो जाता है। बहुत लंबी अवधि तक चलनेवाले इस युद्ध में शोषित वर्ग विजयी होता है। इस विजय के दो कारण होते हैं, पहला कारण है, शोषित वर्ग अधिकसंख्याक वर्ग है। दूसरा, यही वर्ग अधिक कुचला जानेवाला भी है। जिस वर्ग की प्राथमिक और अनिवार्य आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं होती हैं, उसी वर्ग में असंतोष की मात्रा भी अधिक होती है, और यही असंतोष उन्हें युद्ध लड़ने के लिए बल भी प्रदान करता है।

मार्क्सवाद के इस महत्वपूर्ण सिद्धांत "वर्ग-संघर्ष" को मध्यकालीन भारतीय समाज पर लागू करने से पहले, मार्क्स के भारतीय समाज के प्रति विचारों को जानना भी आवश्यक है, जिसका ज्ञान हमें इतिहासकार डॉ॰ इरफान हबीब के "फार्म्स आफ क्लास स्ट्रगुल इन मुगल इंडिया" नामक लेख में प्राप्त होता है। इस लेख के सारांश को देते हुए ही हम वर्ग-संघर्ष को भक्ति-आंदोलन के संदर्भ में बताने का प्रयत्न करेंगे।

सारांश इस प्रकार है; मार्क्स का मानना है कि अंग्रेजों के हमले से पूर्व भारतीय समाज में किसी प्रकार की वर्ग-चेतना और वर्ग संघर्ष नहीं थे। मार्क्स के इस प्रकार की अवधारणा का कारण यही है कि मार्क्स के पास उस समय भारत से संबंधित सही जानकारी देनेवाले स्रोत नहीं थे। इसीलिए इन्होंने भारतीय समाज को स्वतंत्र ग्राम समुदायों में देखा है, जिसका उत्पादन अपने ग्राम की आवश्यकताओं तक ही सीमित था और बाज़ार के लिए वे अधिक उत्पादन नहीं करते थे।

अंग्रेजों के पूर्व के भारतीय समाज के प्रति मार्क्स की इस अवधारणा को गलत बताते हुए इतिहासकार इरफ़ान हबीब, मुगलकालीन भारत में वर्गों के अस्तित्व को तथा उनमें चेतना एवं द्वन्द्व को,

कृषि-व्यवस्था के संबंध में बताते हैं। संघर्ष प्रत्येक समाज के अपने अंतर्विरोधों से पैदा होते हैं और इस संघर्ष के रूप भी समाज व्यवस्था के निर्माण के अनुसार ही निश्चित किये जाते हैं। मध्य-कालीन भारत की सामाजिक-व्यवस्था जाति-व्यवस्था पर निर्भर होने के कारण ये संघर्ष भी जाति-व्यवस्था से जुडे हुए होते हैं।

इस प्रकार इरफ़ान हबीब कृषि व्यवस्था में वर्गों को पाँच रूपों में बताते हैं।

"प्रथम रूप में भूमिहीन मज़दूरों को रखा गया है, जिन्हें चाण्डाल भी कहते हैं, जो जाति व्यवस्था की उपज है। इन्हें भूमि पर कोई अधिकार नहीं दिये जाते थे और सबसे सस्ते मज़दूरों के रूप में इन्हें इस्तेमाल किया जाता था। इनका शोषण उच्च वर्ग के साथ निम्न वर्ग भी करता है।

दूसरा वर्ग "कृषक वर्ग" है। इस कृषक वर्ग में भूमि पर अधिकारों को लेकर तथा आर्थिक परिस्थितियों में अंतर को लेकर दो वर्ग बन जाते हैं। एक धनी किसान वर्ग है, दूसरा ग़रीब किसान वर्ग। इस प्रकार का भेद भी सत्ताधारी वर्ग का अधिक भूमि-कर के कारण ही है क्योंकि धनी किसान, ग़रीब किसानों पर अपने अधिकार जमाते हुए, "कर" में अधिक भाग उनसे वसूल करता है।

तीसरा वर्ग "जमींदारी वर्ग" है, जो परंपरागत रूप में ज़मीन के वारिस होते हैं। जमींदारों को "भूमिकर" का भाग बहुत कम दिया जाता था, इसलिए किसान एवं जमींदारों में तथा जमींदार एवं अधिकारियों में द्वन्द्व चलते थे। पश्चात् जमींदार और कृषक वर्ग अपने अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु एक हो जाते थे। इस एकता का माध्यम उनके जातिगत बन्धन थे।

चौथा वर्ग मनसबदारों का है, जो "भूमिकर" को वसूल करते थे, और वह "कर" किसानों के उत्पादन का अतिरिक्त भाग था।

अतः भूमिकर ही किसानों और राज्य के अधिकारियों के बीच संघर्ष का मूल कारण था।

पाँचवा वर्ग शहरी वर्ग है, जिसमें कारीगर, एवं व्यापारी आते हैं, जो बाज़ार के लिए भी माल तैयार करते हैं।"[1]

परंतु इरफ़ान हबीब यह ज़रूर मानते हैं कि एक "भारतीय किसान" के रूप में वर्ग-चेतना नहीं थी, सिर्फ अपने-अपने प्रदेशों में, अपने जातिगत संकुचित दायरों में ही किसानों की एकता

---

1. डॉ. इरफ़ान हबीब : "एस्सेस इन इंडियन हिस्टरी" (टूवर्ड्स मार्क्सिस्ट प्रिसेप्शन) पृ. 233-239

थी, जो तत्कालीन प्रयोजनों के लिए मिलते थे। जो भी हो, सीमित अर्थों में ही सही, वहाँ वर्ग-संघर्ष था।

इस प्रकार इतिहासकार के इस कथन से हमें मध्यकालीन भारत में वर्ग चेतना एवं वर्ग-संघर्ष के होने का सबूत मिल जाता है।

भक्ति-आंदोलन में वर्ग संघर्ष का जब हम अध्ययन करते हैं तो पता चलता है कि, कारीगर एवं व्यापारी वर्ग के लोग ही भक्ति-आंदोलन के नेता संत महात्मा थे। कबीर, रैदास, दादू, आदि कारीगर वर्ग से थे तो नानक व्यापारी वर्ग से। इसके अलावा निर्गुण एवं सगुण भक्ति-आंदोलनों में भाग लेने वाले जन-साधारण में सभी प्रकार की जातियाँ एवं वर्ग थे। किसानों में भी तरह तरह की जातियों के लोग थे। भक्तिकाव्य समकालीन समाज के द्वन्द्वों को बताते हुए, सामाजिकों में परिस्थितियों के प्रति सजगता उत्पन्न करता है।

वर्ग-संघर्ष - भक्ति-आंदोलन :

मध्यकाल में परिस्थितियाँ ठीक ऐसी ही थीं। मध्यकालीन सामाजिक व्यवस्था सामंती व्यवस्था होने के नाते शोषक वर्ग सामंत

था, तो शोषित वर्ग किसान। इन दोनों वर्गों के बीच संघर्ष तीव्रतम स्थाई में था। शोषण की तीव्रता पर ही संघर्ष की तीव्रता भी आधारित होती है। मध्यकाल में भक्ति-आंदोलन के उतने व्यापक रूप ले लेने के पीछे इसी शोषण की तीव्रता का हाथ था। मध्यकाल में शोषित वर्ग में किसान के साथ-साथ अनेक अन्य वर्ग भी थे, जिनका शोषण भी बड़े पैमाने पर होता था और जिनमें कारीगर, मज़दूर एवं शिल्पी वर्ग थे।

मध्यकालीन भारत में वर्ग अनेक रूपों में देखने को मिलते हैं, और वर्ग-संघर्ष भी अनेक स्तरों पर पाया जाता है। जैसे मध्यकाल में उत्पादन की पद्धति के आधार पर आर्थिक-स्तर पर भिन्न वर्ग पाये जाते हैं, वैसे ही जाति-व्यवस्था का महत्व है, तो जाति-परक संघर्ष भी विद्यमान है। किसान वर्ग भी है, व्यापारी वर्ग भी है, शिल्पी वर्ग एवं मज़दूर वर्ग भी है। परंतु ये सभी वर्ग आर्थिक स्थिति में शोषण के शिकार हैं, अधिकारी अथवा सामंत वर्ग इनका शोषण करता है, इसलिए यहाँ पर यही होता है कि समाज के सर्व साधारण जनता के ये वर्ग उच्च वर्ग के साथ संघर्ष करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज में भिन्न प्रकार के वर्ग भी हैं और शोषण के भिन्न स्तर भी हैं, साथ ही इसके संघर्ष भी हैं। इसलिए इन संघर्षों को भी अनेक रूपों में देख सकते हैं।

अर्थपरक संघर्ष :

मध्यकाल में कहिए या किसी भी युग में, संघर्ष हमेशा दो भिन्न आर्थिक स्थिति विधान रखनेवाले वर्गों के बीच ही में उत्पन्न होता है। चाहे वह संघर्ष जातिपरक हो, धर्मपरक या वृत्तिपरक, अंततः वह अर्थ से जुड़ा हुआ होता है। इस काल में सामंत वर्ग सबसे बडा शोषक वर्ग रहा। भूमि पर उसका पूरा अधिकार था। उस भूमि पर काम करनेवाले किसान पर भी वह अधिकार रखता था। जब भी उसे भूमि बेचनी पडती थी, ज़मीन के साथ किसान को भी दूसरे मालिक के हवाले होना पडता था। पैदावार में अधिक भाग सामंतवर्ग "कर" के रूप में वसूल कर लेता था। इतना ही नहीं, किसान के खाने-पीने से भी अधिक कुछ भी बचा हुआ है तो, वह भी उनसे छीन लिया जाता था। इस प्रकार के सामंतवर्ग के अत्याचारों से पीडित किसान वर्ग विद्रोह का रास्ता अपनाता है।

इतिहासकार एस॰ए॰ए॰ रिज़्वी मध्यकालीन भारत के मुख्य आर्थिक स्रोत के संबंध में बताते हुए कहते हैं कि, "दिल्ली सुल्तानों एवं मुग़लों का मुख्य आर्थिक स्रोत "भूमि कर" ही था। ... खेत के काम में आनेवाली ज़मीन के मालिकों को बेदखल नहीं किया

जाता था, परंतु जो भी भूमि, विशेषकर राजधानि के क़रीब की ज़मीन के किसी भी मालिक की युद्ध में मृत्यु हो जाती थी, या उसका पता नहीं चलता था, तो ऐसी ज़मीन मुसलमानों को दिया जाता था। मुसलमान लोग अपने खेत के पैदावार में 1/10 वाँ हिस्सा "कर" के रूप में देते थे, जो फसल बरसात के पानी से सींचा गया हो, अगर वह ज़मीन कृत्रिम पद्धति के द्वारा सींचा गया तो, फसल में 1/20 वाँ हिस्सा ही चुकाना पड़ता था।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकाल में प्रधान आर्थिक स्रोत भूमि रही, फिर भी किसान की हालत में कोई सुधार नहीं थी, बल्कि किसान का अधिक शोषण किया जाता था। मेहनत किसान की थी, पैदावार और उसका फ़ायदा राज्य एवं उसके कर्मचारियों को जाता था। इन सारी स्थितियों से असंतुष्ट किसान सामंतों एवं राज्य के साथ संघर्ष करता था।

इन्हीं परीस्थीतियों को सूरदास अपने इस पद में प्रस्तुत करते हैं —

---

1. एस॰ए॰ए॰रिज़्वी :"द वण्डर दट वाज़ इंडिया," पृ॰ 183

"प्रभु जू यौं कीन्हीं हम खेती।
बंजर भूमि गाउं हर जोते, अरु जेती की तेती।

x x x

अधिकारी जम लेखा माँगै, तातैं हौं अधीनो।
घर मैं गथ नहिं भजन तिहारो, जैन दिय मैं छूटौं।
धर्म जमानत मिल्यौ न चाहे, तातैं ठाकुर लूटौ।
अहंकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत बही।
लागौ धरमं, बतातै अधरम, बाकी सबै रही।"[1]

अर्थात् समकालीन कराधान का प्रभाव समाज पर कितना था, यह सूरदास के उपर्युक्त पद से मालूम हो जाता है।

डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय सूर के उपर्युक्त पद के आधार पर सामंती समाज में किसान -जीवन का विवेचन इस प्रकार करते हैं, "सूर के काव्य में जिस किसान जीवन का चित्रण है, उसका एक विशेष सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भ है। वह संदर्भ सामंती व्यवस्था का है, जिसके भीतर किसान-जीवन के अनुभवों का रूप बना है। सूर की विशेषता यह है कि उन्होंने सामंती-व्यवस्था

1॰ सं॰ नंददुलारे वाजपेयी : "सूरसागर", पृ॰ 60, पद 185

के संदर्भ के साथ किसान-जीवन के अनुभवों का चित्रण किया है। उसमें सामंती व्यवस्था के अत्याचार और किसानों की यातना को मूर्त और इंद्रियग्राह्य बनाने के लिए रूपक का सहारा लिया गया है। एक रूपक में किसानों की निर्धनता के कारण लगान देने में असमर्थता सामंतों की लूट और उनके कपटी कर्मचारियों के अनाचार का वर्णन इस रूप में है।"[1]

मैनेजर पाण्डेय सूरदास के काव्य में समकालीन लगान की लूट के साथ सूदखोरी का भी विवेचन करते हैं।

जातिपरक संघर्ष :-

विद्वानों ने मध्यकाल में असंख्याक जातियों के अस्तित्व को माना है। इस संदर्भ में डॉ॰ रामविलास शर्मा की टिप्पणी विचारणीय है — "मुख्य बात यह है कि जाति-प्रथा हिन्दू समाज की मूल विशेषता है, यह समाज आत्मरक्षा में लीन होगा तो सबसे पहले जाति प्रथा की रक्षा करेगा, अत: इस समाज ने जो साहित्य रचा, उसकी व्याख्या भी जाति प्रथा के आधार पर ही की जा सकती है। बहुत से हिन्दी कवि मुसलमान थे। द्विवेदी जी के अनुसार इन्होंने धर्म

---

1. डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय : "भक्ति-आंदोलन और सूरदास का काव्य" पृ॰ 296-97

परिवर्तन किया था, इस परिवर्तन के बाद भी इनमें हिन्दुत्व के चिह्न भी बचे हुए थे। हिन्दुत्व का मतलब है, जाति प्रथा, अतः इनमें जाति प्रथा के चिह्न भी बचे होंगे। जिन्होंने धर्म परिवर्तन नहीं किया उनमें तो जाति प्रथा के चिह्न होंगे ही।"[1]

यहाँ हम देखते हैं कि जाति प्रथा और हिन्दुत्व समानार्थी शब्द माने गये हैं। मतलब जाति प्रथा से अलग हिन्दुत्व का कोई अस्तित्व नहीं है। इसलिए लेखक के विचार में जब कभी भी हिन्दू समाज पर कोई संकट होगा तो वह सर्वप्रथम अपनी जाति प्रथा को ही रक्षा करेगा जिसके कारण अनायास ही हिन्दुत्व की रक्षा हो जाती है। इससे पता चलता है कि मध्यकाल में जाति-व्यवस्था का कितना महत्व था। मध्यकालीन साहित्य के मूल्यांकन में इस विशेष पहलू को नज़र-अन्दाज नहीं किया जा सकता, क्योंकि अनेक प्रकार की जातियाँ थीं और उनमें भेद भी अनेक होते थे। इसलिए तुलसीदास जैसे महान भक्त कवि, जो समन्वयकारी के नाम से मशहूर हैं, में भी जातिव्यवस्था के प्रति अनेक मत दिखाई पडते हैं। कहीं कहीं वे वर्णाश्रम धर्म के समर्थक हैं, तो कहीं वे निम्न जाति के भक्तों को ब्राह्मणों से भी अधिक महत्व देते हैं।

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा : "हिन्दी जाति का साहित्य", पृ. 33

उन्होंने राजघाट पर चारों प्रकार के वर्णों के लोग एक साथ मिलकर स्नान करने की बात भी की है --

"राजघाट सब बिधि सुंदर बर।
मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर ।।"[1]

यहीं, इसी मोड़ पर तुलसीदास के असली भक्त होने का सबूत मिल जाता है। उन्होंने जहाँ कहीं भी ब्राह्मणों की वंदना की, वहीं उन्होंने ढोंगी ब्राह्मणों को भी फटकारा है। इस प्रकार तुलसीदास में समाज की असंगतियाँ प्रतिबिंबित होती हैं।

जिस प्रकार के अंतर्विरोध तुलसी में हैं, वे हमें कबीर में दिखाई नहीं देते हैं। इसका कारण यही कह सकते हैं कि, कबीर निम्न जाति के थे और उनका विरोध ब्राह्मणों के प्रति था। उनकी सहानुभूति एवं संवेदनाएँ भी गरीब एवं निम्न जाति के प्रति थीं, जो शोषित थी। कबीर का विरोध समाज की असमानताओं के प्रति था। ऊँच-नीच के भेदभाव एवं छुआछूत को दूर करना उनका लक्ष्य था। मध्यकालीन जाति-व्यवस्था के प्रति सजग कबीर इस जाति-व्यवस्था से जनता का पीछा छुड़ाने के लिए अनेक दोहे रचे थे--

---

1. "तुलसी ग्रंथावली" - प्रथम खण्ड, मानस, सप्तम सोपान, पृ. 430

"जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान।।"[1]

इस दोहे में हमें यही देखने को मिलता है कि कबीर मध्यकालीन जाति-व्यवस्था को एक चुनौती दे रहे हो, ताकि इनसान का मूल्यांकन उसकी जाति के आधार पर नहीं, बल्कि ज्ञान के आधार पर करें। यहाँ हम ज्ञान का व्यापक अर्थ ले सकते हैं, जैसे, मनुष्य की मानवता ही उसका सबसे बड़ा ज्ञान हो। मनुष्य मानवता के विरुद्ध और किसी विषय पर बल देगा तो, वह अज्ञानी ही साबित होगा और वह मनुष्य की कोटि में स्थान पाने योग्य नहीं रह जाएगा।

समाज में निम्न जातियों के प्रति जो भाव थे, उनसे कबीर अच्छी तरह वाकिफ थे। क्योंकि स्वयं कबीर एक निम्न जाति के थे। इसलिए इस प्रकार की जातिगत चेतना सन्तों, भक्तों में थी और वे इस चेतना को समाज के समक्ष रखते थे। और निम्न जातियों में अपने कुल को लेकर उत्पन्न होनेवाले हीन भावों को भी दूर करते थे --

"कबीर सोई कुल भलो जा कुल हरि को दासु।
जिहि कुल दास न ऊपजे सो कुल ढाकु पलासु।।"[2]

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-4, कबीर, पृ. 450
2. डॉ. श्यामसुंदर दास : "कबीर ग्रंथावली", पृ. 198

जो भगवान के शरण में आता है, उसीकीजाति सबसे अच्छी जाति हो सकती है। उच्च कुल में उत्पन्न होने पर भी भगवान के शरण में नहीं जानेवाले का जीवन बेकार है।

इसी प्रकार कबीर वैष्णवों की झूठी उपासना एवं अहंकार पर भी प्रहार करते हैं --

" वैष्णव हुआ त क्या भया माला मेली चारि।
बाहर कंचनवा रहा भीतरि भरी भंगारि।।"[1]

और कबीर जुलाहा जैसी निम्न जातियों पर हँसनेवालों का मुँह बंद करते हुए कहते हैं --

"कबीर मेरी जाति कौ सब हँसने हारु।
बलिहारी इस जाति कौ जिह जपिये सिरजनहारु।।"[2]

इस प्रकार निम्न जातियों का भी समाज में "भक्ति द्वारा" ऊँचा महत्व हो सकता है, का सन्देश देते हुए कबीर निम्न जातियों में चेतना जगाते हैं।

मध्यकाल में जाति-व्यवस्था के विरोध में निर्गुण-सगुण --

---

1. सं. डॉ. श्यामसुंदर दास : "कबीर ग्रंथावली, पृ. 197
2. वही, पृ. 196

दोनों प्रकार के भक्तों को इतना क्यों संघर्ष करना पड़ा ? इन सभी संघर्षों से ही पता चल जाता है कि जाति व्यवस्था कितनी गहरी समाज में समा गई थी। विशेषकर ब्राह्मण आधिपत्य इस काल में अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। और उच्च जाति पर अत्याचार भी अधिक हो गए थे। समाज सुधारक भक्तों को इन सामाजिक विकृतियों के प्रति घृणा थी। इसलिए उन्होंने इसके विरोध में आवाज उठायी थीऔर अपनी रचनाओं द्वारा सुधार का काम किया था।

धार्मिक संघर्ष :-

मध्यकाल में भारत में मुख्यत: दो धर्म थे, एक इस्लाम धर्म जो शासक वर्ग भी था, परन्तु अल्पसंख्यक वर्ग था। दूसरा हिन्दू धर्म था जो अधिकसंख्याक वर्ग था और धार्मिक पाखण्डों का भरमार भी था।

डॉ• रामविलास शर्मा ने मध्यकालीन संघर्ष को धार्मिक लिबास में वर्ग संघर्ष माना है। उनके अनुसार, "मध्यकाल में वर्ग संघर्ष बहुधा धार्मिक रूप ले लेते थे। यह संघर्ष धार्मिक लिबास में सामने आता है।"[1]

1• डॉ• रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ• 76

इसका कारण भी स्पष्ट है कि मध्यकाल में भक्ति-आंदोलन अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका था। इसलिए मध्यकाल में संघर्षों का रूप धार्मिक होना भी सहज ही था। यह संघर्ष भी अनेक रूपों में व्यक्त होता है।

आलोच्यकाल में समाज में धार्मिक पाखण्डों का बोलबाला था। ब्राह्मण पुरोहित वर्ग धर्म एवं समूचे हिन्दू समाज पर अपना अधिकार जमा चुका था। इस वर्ग ने बाह्याचारों आदि द्वारा जनता को बहला-फुसलाता था। जनता को इनके पाखण्डों की पहचान नहीं थी। जन साधारण के अज्ञान का फ़ायदा उठाकर यह पुरोहित वर्ग जनता को लूटता था। इस पाखण्डी पुरोहित वर्ग के अत्याचारों से अच्छी तरह वाकिफ़ सन्त लोग उनके असली रूप को जन साधारण के समक्ष खोल रखते थे। बाह्याचारों के विरोध में सन्त एवं भक्तों ने नाम-महिमा को महत्व दिया था। ईश्वर का नाम-स्मरण ही सबसे अधिक भक्तिपूर्ण कार्य है, बाह्याडंबरों से ईश्वर को खुशी नहीं मिलती, इस प्रकार के विचारों को देकर वे लोग जनता के अज्ञान को दूर करते थे।

कबीर का एक पद है, जिसमें वे विभिन्न धर्मों को एक साथ मिलाते हुए, "ईश्वर तो सबका एक ही है, जो सर्वत्र वर्तमान है" , कहकर वे धार्मिक भेदभावों को दूर करने की चेष्टा करते हैं--

"जोगी गोरख करै। हिन्दू राम-नाम उच्चरै।
मुसलमान कहै एक खुदाइ। कबीर को स्वामी घटि घटि
रह्यो समाइ।।"[1]

कबीर के इस पद से एक तरफ़ समकालीन समाज में विभिन्न प्रकार के धर्म एवं धर्म साधनाएँ किस प्रकार की थीं और इनके बीच किस प्रकार का द्वन्द्व था, इसका पता लगता था, साथ ही कबीर का इन द्वन्द्वों में समानता स्थापित करने का प्रयत्न भी दृष्टिगोचर होता है।

साथ ही साथ मध्यकाल में छुआछूत एक विषम समस्या थी, जो एक महारोग की भाँति समाज के नाश का कार्य कर रही थी। मंदिरों में अछूतों के प्रवेश का निषेध, उनके द्वारा ऊँची जातियों की गुलामी आदि ऐसे कारण थे जो अछूतों का जीवन दूभर कर रहे थे। अछूत कही जानेवालों में स्वयं इतनी हिम्मत एवं शक्ति नहीं थी कि वे उच्च जाति से लड़ सकें। सदियों से सहती हुई अछूतों की इन पीड़ाओं से मुक्ति दिलाने का ज़रिया बनकर अवतरित हुआ "भक्ति-आंदोलन", जो छुआछूत का भेदभाव क़तई

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - 4, पृ. 206

नहीं रखता था।

महाराष्ट्र के महान भक्त तुकाराम के योगदान की इस दशा में उपेक्षा नहीं की जा सकती। उन्होंने ही महाराष्ट्र में अपनी तर्कशक्ति, बुद्धि कुशलता, अपनी सादगी आदि गुणों से अछूतों को मंदिर प्रवेश कराने में कामयाब रहे।

और, कबीर, जो जुलाहा जैसी निम्न जाति में उत्पन्न होने के बावजूद, ब्राह्मणों के विरोध में बोलने की हिम्मत रखते थे। उन्होंने ब्राह्मणों के ज्ञान के खोखलेपन को ललकारा, साथ ही निराशा निरीह जनता को यह आश्वासन भी दिया कि भगवान तुम्हारे हृदय में ही स्थित है, मंदिरों में, पत्थर की मूर्तियों में नहीं है। इसलिए तुम अपने अन्दर ही भगवान को पा सकोगे।

"मोको कहाँ ढूँढे बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कोनै क्रिया-कर्म में, नहीं यो बैराग में।
खोजी होय तो तुरते मिलि हौं, पल भर की तलाश में।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वासों की स्वास में।।"[1]

---

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली - 4, कबीर, पृ. 377

इस पद द्वारा कबीर न केवल धर्म के बाह्याडंबरों का ही विरोध करते हैं बल्कि, अस्पृश्य माने जानेवाली जातियों को यह बताना चाहते हैं कि ईश्वर मंदिरों में नहीं बल्कि वह अपने हृदय में ही रहता है, सच्चे मन से खोजने पर उसे पा सकते हैं।

इसलिए ईश्वर को ढूँढ़ने के लिए मंदिर, मसजिद, काबा अथवा कैलाश जाने की आवश्यकता नहीं है, ना ही योग, वैराग्य में और किसी प्रकार के बाह्य क्रिया कलाप द्वारा ही मिलता है। वह तो साँसों में ही समा हुआ है, तलाश करने पर पल भर में पा सकोगे।

इस प्रकार कबीर समकालीन बाह्याडंबरों को लेकर चलनेवाले द्वन्द्वों की जानकारी देते हैं और उससे निपटने का उपाय भी। उन्होंने यह भी कहा कि, तुम्हारे प्रेम के कारण सच्चे प्रेम के वश होकर भगवान तुम्हारे घर भी आयेंगे --

"बहुत दिनन थैं मैं प्रीतम पाये,
भाग बड़े घरि बैठे आये।।"[1]

इस प्रकार मध्यकालीन भारत की परिस्थितियों के अनुकूल

---

1. डॉ॰ श्यामसुंदर दास : "कबीर ग्रंथावली", पृ॰ 69

जनता में आत्मविश्वास का संचार करने में सन्तों और भक्तों ने अपना योगदान दिया है।

वृत्तिपरक संघर्ष :-

मध्यकाल में विविध प्रकार की वृत्तियाँ एवं व्यवसाय थे। कारीगर, शिल्पकार आदि अनेक वृत्तियाँ थीं। अपनी वृत्ति से ही किसी की जाति का भी पता चलता था। कुम्हार, लुहार, सुनार, चमार, जुलाहा, बुनकर आदि अपनी वृत्तियों के कारण उसी जातियों में गिने जाते थे।

इन कारीगरों के साथ जन साधारण में एक वर्ग किसान का भी था और एक वर्ग व्यापारियों का। इसी काल में शहरों में कारखानों में काम करनेवाला मज़दूर वर्ग भी पनप रहा था। ये सारे वर्ग जन साधारण से हैं, और निम्न कोटि के। इनकी आमदनी {आय} बहुत कम हुआ करती थी, इसके ऊपर उच्च अधिकारियों एवं सामंतों का "कर" रूप में शोषण अलग ही था।

इन सब वृत्ति-व्यापारी वर्गों में सबसे बड़ा वर्ग किसानों का रहा। मध्यकाल में कृषि-प्रधान आर्थिक विधान था। किसान वर्ग में किसी एक जाति के व्यक्ति नहीं, बल्कि अनेक जातियों

के व्यक्ति थे। इन सारे साधारण वर्गों का समय-असमय में शोषण किया जाना एक आम बात थी। इन हिंसक परिस्थितियों से ये वर्ग तंग आ चुके थे। इनमें से अनेक छोटे किसान कर भार एवं ऋण भार तले दबकर जैसे-तैसे जी रहे थे, तो कुछ लोग इस बोझ से बचने के लिए गाँव छोड़कर शहरों में जा बसने लगे। वहाँ भी उनकी हालत उतनी सुधरी हुई नहीं थी। शहरों में इन्हें कारखानों में मज़दूरी का काम करना पड़ता था। इस प्रकार छोटे किसान मज़दूर बनने लगे।

शिल्पकारों, दस्तकारों, कारीगरों ने अपने तैयार किये हुए माल की अच्छी बिक्री के लिए शहर जाते थे। इस प्रकार व्यापार में बढ़ोत्तरी हुई। व्यापार की उन्नति से एक और नया वर्ग क्षेत्र में आता है, वह है व्यापारी वर्ग।

डॉ॰ इरफ़ान हबीब के अनुसार, व्यापार में उन्नति के कारण जनता के जीवन में, आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ था। निम्न से निम्न जाति का मनुष्य भी अपने जीवन-स्तर में सुधार पाकर उच्च जाति में अपने आपको शामिल कर लेता था। फिर निम्न जाति और उसकी ग़रीबी बनी ही रहती थी। इससे निष्कर्ष यही निकाला जा सकता है कि एक तरह से आर्थिक

स्थिति मनुष्य के निम्न एवं उच्च होने की ज़िम्मेदार है। और जाति भी आर्थिक स्थितियों के गति-विधान पर निर्भर करती है।

मध्यकाल में ये सारी वृत्तिपरक, व्यवसायपरक जातियों का एक विशाल वर्ग के रूप में संगठन नहीं होता है, परंतु प्रत्येक शोषित व्यक्ति को अपने 'शोषित' होने का ज्ञान अवश्य था। और उसका असंतोष उनके विरोध के लिए काफी मददगार होता है। इन वर्गों में सामंत-किसान संघर्ष महत्वपूर्ण है।

सामंत-किसान संघर्ष :-

मध्यकाल में सामंतों एवं ब्राह्मणों को भूमि पर अधिकार था। सामंत राजा होने के नाते भूमि पर उनका अधिकार सहज ही था, परंतु ब्राह्मणों को भूमिदान में देने की प्रथा के कारण ब्राह्मण भी भूस्वामी बन जाया करते थे। साथ ही ब्राह्मणों को भूमि के साथ साथ उस पर काम करनेवाले किसानों पर भी पूरे अधिकार दिये जाते थे। सामंत वर्ग एकमात्र बड़ा शोषक वर्ग था, जो किसानों का हर संभव शोषण करता था।

किसान वर्ग एक बड़ा समुदाय था, जिसमें अनेक जातियों के लोग थे। डॉ॰ रामविलास शर्मा इस किसान समुदाय को

एक वर्ग की संज्ञा देते हैं। उनके अनुसार, "उत्पादन के विचार से वे एक विशेष समुदाय है, वर्ग हैं। जितने इतिहासकार और समाजशास्त्री "मध्यकालीन भारत" का विवेचन करते हैं, किसानों की बात ज़रूर करते हैं। वे यह भी मानते हैं कि भारत में वर्ण व्यवस्था और जाति बिरादरी का चलन था, धर्मों और संप्रदायों का चलन था। वे यह नहीं बताते कि ये किसान किस वर्ण के थे, इनका अपना विशेष धर्म या संप्रदाय कौन सा था। बताने लगे तो कोई धर्म और संप्रदाय छूटेगा नहीं, कोई वर्ण और जाति बचेगी नहीं। अपने धर्मों, संप्रदायों, वर्णों, जातियों को साथ लिये उत्पादकों का एक विशाल वर्ग बन गया था। यह वर्ग किसानों का था। वर्ण के आधार पर नहीं, वर्ग के आधार पर ही भारत के आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक-विकास ‖ या ह्रास ‖ की व्याख्या संभव है।"[1]

लेखक का यहाँ पर स्पष्ट कहना है कि उत्पादन के विचार से किसान एक वर्ग है चाहे इसमें कितनी ही जातियाँ एवं वर्ण के लोग सम्मिलित क्यों न हो, परंतु है यह एक वर्ग, जो विशाल किसान समुदाय है।

अपने मत की पुष्टि में लेखक ने तुलसीदास का उदाहरण देते

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा : "हिन्दी जाति का साहित्य" पृ. 43

हुए, तुलसी द्वारा रचित "किसबी किसान कुल" को प्रस्तुत करते हैं, जिसमें तुलसीदास ने किसान समुदाय को एक वर्ग के रूप में देखा था।

कबीर, तुलसी, सूरदास आदि मध्यकाल के प्रमुख भक्त कवियों ने अपनी समकालीन परिस्थितियों का वर्णन भी अपनी रचनाओं के माध्यम से किया था।

सामंतों एवं अधिकारियों के अत्याचार, किसानों की दीन स्थिति, उस पर अकाल, इन सारी परिस्थितियों ने किसानों को विद्रोह करने पर बाध्य किया। किसान-सामंत संघर्ष में भक्ति-आंदोलन ने अपना सहयोग किसानों के साथ दिया था। भक्ति-आंदोलन से प्रेरणा ग्रहण कर किसानों ने अपनी दुस्थिति को समझते हुए सामंतों के प्रति विद्रोह किया था।

भक्ति-आंदोलन एक तरफ मुक्ति की कामना करनेवाले भक्तों की भक्ति लिये हुए आगे बढ़ता है, तो दूसरी ओर वह समाज में स्थित असमानताओं के कारण अत्यधिक प्रभावित होनेवाले शोषित वर्ग के साथ सहानुभूति रखता है। शोषित, पीडित वर्ग इसमें शामिल होकर अपने जीवन-स्तर में सुधार के लिए संघर्ष करते हैं।

x x x

छठा अध्याय

भक्ति-आंदोलन के सामाजिक संदर्भ

छठा अध्याय

भक्ति-आंदोलन के सामाजिक संदर्भ

1. भक्त-कवियों का भौतिक जीवन
2. सामाजिक यथार्थताएँ
3. भक्ति की महिमा
4. गुरु की महिमा
5. प्रेम तत्त्व
6. नारी-जीवन
7. मानवतावाद
8. निर्गुण-सगुण की समस्या
9. जन-भाषा

भक्ति-आंदोलन के सामाजिक संदर्भ

भक्ति-आंदोलन के सामाजिक संदर्भ को हम भक्त-कवियों के सामाजिक जीवन के संदर्भ में देख सकते हैं और उनकी सामाजिक चेतना को उनकी कृतियों के आधार पर पहचान सकते हैं। उनकी रचनाएँ समाज के प्रति उनके लगाव को व्यक्त करती हैं। इसी कारण डॉ॰ रमेशकुंतल मेघ, डॉ॰ शिवकुमार मिश्र जैसे आलोचक भक्तिकाव्य को क्रमशः सामाजिक इतिहास लेखन का काव्य और लोकजीवन का काव्य मानते हैं।

मार्क्सवादी आलोचक भक्ति-आंदोलन के मूल्यांकन में संत-महात्माओं के आध्यात्मिक जीवन की अपेक्षा भौतिक जीवन को अधिक महत्त्व देते हैं। भक्त कवियों के भौतिक जीवन के आधार पर ही भक्तिकाव्य की समीक्षा की गयी है।

भक्तिकाव्य के इसी सामाजिक यथार्थ को समकालीन सामाजिक यथार्थताओं जैसे अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, सामंती-व्यवस्था का शोषण, भक्ति का स्थान, नारी-जीवन, निर्गुण-सगुण-विवाद, मानवतावादी दृष्टिकोण तथा जनभाषा-महत्त्व आदि भिन्न-भिन्न सामाजिक पहलुओं का सामाजिक संबंधों के रूप में अध्ययन, अनुशीलन करेंगे।

भक्त-कवियों का भौतिक जीवन :-

भक्त कवियों के भौतिक जीवन को परखने के लिए कबीर-जीवन से उत्कृष्ट उदाहरण दूसरा कोई नहीं है। कबीर अपनी जुलाहा

वृत्ति में लोक-परलोक दोनों को देखते हैं। यही वृत्ति उनकी जीविका का साधन रही, जो उनकी रचनाओं द्वारा ही स्पष्ट है। वे अपनी वृत्ति को अपने आध्यात्मिक जीवन से अलग करके नहीं देखते थे। वस्त्र बुनने में सहायक सभी भौतिक औज़ारों, करघा, सूत, रंग आदि को, इन्होंने अपनी रचनाओं में आध्यात्मिक प्रतीकों के रूप में प्रयोग किया था --

"चरखा चले सुरत बिरहिन का।

x x x

मिहीन सूत बिरहिन कातें, माँझा प्रेम भगति का।
कहे कबीर सुनो भाई साधो, माला गूँथो दिन रैन का।
पिया मो ऐहैं पगा रीखहें, आँसू भेंट देहौं नैन का।"[1]

इस प्रकार कबीर की भक्ति लौकिक जीवन से जुड़ी हुई थी, अपनी वृत्ति से जुड़ी हुई थी। सब कुछ छोड़-छाड़कर यति का जीवन बिताते हुए भिक्षा द्वारा जीने की सीख उन्होंने नहीं दी। अपनी जीविका वे खुद अर्जित करते थे, इसलिये उनमें स्वाभिमान का होना उचित ही था।

---

1. "हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली" -4, पृ. 417

उनके जीवन और वृत्ति द्वारा समाज को एक प्रेरणा यह मिलती है कि "भक्ति" ﴾निर्गुण भक्ति﴿ भी कोई कठिन काम नहीं है, भौतिक जीवन की यथार्थता को पहचान कर, उसे त्यागे बिना ही आध्यात्मिक जीवन की साधना भी कर सकते हैं, परन्तु इसके लिए मन की स्वच्छता की आवश्यकता होती है।

इतिहासकार डॉ॰ इरफ़ान हबीब प्रमुख एकेश्वरवादी नेताओं की जाति एवं वृत्ति के संबंध में बताते हैं कि "निम्न जाति में उत्पन्न लोकप्रिय एकेश्वरवादी आंदोलन के नेताओं में अत्यंत प्रमुख नेता कबीर बनारस के "जुलाहा" थे और उन्हीं के समकालीन रैदास इसी शहर के "चमार" थे। नानक, जो धान के व्यापारी थे, वे तीनों मिलकर ऐकेश्वरवादी आंदोलन के "त्रयी" के रूप में विख्यात हैं। उन्हीं के समकालीन सन्त सेन "नाई" थे। राजस्थान के धन्ना एक "जाट किसान" थे। अकबर के समकालीन दादू, जो "दादूपंथ" के गुरु थे, एक "धुनकर" थे। निरंजनी-संप्रदाय के हरिदास एक "जाट-गुलाम" थे और चौदहवीं शती के "नामदेव", महाराष्ट्र के एक "कैलिको पेंइटर" ﴾ Calico-Painter ﴿ थे। वे सारे सन्त-महात्माओं ने भगवान का रास्ता गरीबों के लिए भी सुलभ किया था।"[1]

---

1. डॉ॰ इरफ़ान हबीब: "15 वीं शती में एकेश्वरवादी आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि", पृ॰ 3-4

इतिहासकार के इस उपर्युक्त कथन से लोकप्रिय एकेश्वरवादी सन्तों की जातियों का पता चलता है जो निम्न जातियाँ थीं। निम्न वर्ग के होने के बावजूद अपने समाज-कल्याण की प्रवृत्ति के कारण समाज में उनको गौरवपूर्ण स्थान मिला था। अपनी साधारण जिंदगी में ही, भक्ति के रास्ते पर चलकर सामाजिक बुराइयों के प्रति विरोध करते हुए वे अपनी सामाजिक चेतना को व्यक्त करते हैं।

महाराष्ट्र में कृष्णोपासक सन्तों की जाति एवं जीवन की कठिनाइयों को डी॰ डी॰ कोसाम्बी इस प्रकार बताते हैं, -- "ज्ञानेश्वर चूँकि एक स्वधर्म त्यागी साधु से उत्पन्न हुए थे, इसलिए ब्राह्मणों ने उन पर निषेधाज्ञा लगा रखी थी। उनके बूढ़े माँ-बाप ने गंगा में डूबकर जान दे दी और स्वयं ज्ञानेश्वर ने भी अपने अल्प जीवन में असाधारण यातना झेलने के बाद, आलंदी में विधिपूर्वक प्राण छोड़ दिये। उनके अनुयायी जितने भी मराठा संत हुए, सबने इन्हीं की तरह देशी भाषा में ही लिखा, उनमें सभी जाति के लोग थे, और जनता के कष्टों को उन्होंने आप अपने अनुभव से जाना था। .... "गोरा" अपनी जाति और पेशे से कुम्हार था। "चोखा मेला" एक अछूत था। उस बेचारे

बूढ़े को बेगार में पकड़कर मंगलवेढ़े नगर की दीवार के निर्माण में लगा दिया गया, और वहीं, दीवार के ढ़ह जाने से, उस ग़रीब की मृत्यु हो गयी। ... इन सन्तों में सबसे महान हुए 16 वीं सदी के कुणबी ﴾किसान और बनिया﴿ तुकाराम। क्या नहीं झेलना पड़ा उन्हें ? कराल अकाल, समकालीन लोक-गीतकारों की निरंतर ईर्ष्या और ब्राह्मणों की तिरस्कारपूर्ण घृणा। अंतत: बेचारे ने नदी में जल समाधि ले ली। ये सभी लोग एक ऐसे व्यापक आंदोलन के प्रतिनिधि थे जिसकी शाखाएँ उनके अपने अपने प्रदेश और भाषा से निकलकर दूर-दूर तक फैल गयी थीं।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होजाता है कि ज्ञानेश्वर, तुकाराम जैसे परम भक्तों को भी अपने समाज सुधारक प्रवृत्ति के कारण ही अपमान झेलने पड़े थे। और असमय में ही प्राण त्यागने पड़े थे। "चोखा मेला" जैसे एक अस्पृश्य भक्त का समाज में क्या हालत होता है, यह भी विदित हो जाता है। इन सामाजिक अत्याचारों को दूर करने के लिए इन भुक्तभोगी, पीड़ित, वंचित निम्नजातियों से उत्पन्न सन्त महात्मा ही अपने जैसे अन्य निम्न

---

1. डी० डो० कोसाम्बी : "मिथक और यथार्थ", पृ० 38, 39

जातियों के उद्धार का बेड़ा उठाया था। इन भक्त कवियों को चाहे कितनी भी कठिनाइयों का सामना करना पड़े, परंतु वे कभी भी उच्च वर्ग के सामने झुकते नहीं थे। इन्होंने किसी भी सत्ताधारी वर्ग की चापलूसी नहीं की। अपने आत्म गौरव को बनाये रखा और इनके जीवन से अन्य निम्न जातियों को भी यही प्रेरणा मिलती है कि उन्हें किसी का गुलाम बनकर जीने की ज़रूरत नहीं है। उन्होंने कभी दुहरा जीवन नहीं जिया है, उनका व्यक्तित्व अटल है।

सामाजिक यथार्थताएँ :-

मध्यकालीन समाज की यथार्थताओं को भक्त कवि अपने अनुभव से जानते हैं। उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, आर्थिक शोषण, जाति-व्यवस्था के संकुचित बंधन, आदि को अपने काव्य में स्थान दिया। सामाजिक बुराइयाँ ही जनता की हीनस्थिति के कारण रहीं। इस सत्य से वाकिफ भक्त कवियों ने इस सामाजिक व्यवस्था से विरोध किया। हिन्दू एवं इस्लाम -- दो धर्मों की मिली-जुली भारतीय संस्कृति इन कवियों की नज़र से ओझल नहीं है। दो भिन्न भिन्न धर्मों के होते हुए भी भक्ति-रचनाओं

के स्तर पर हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग नहीं थे। जायसी, रहीम, रसखान जैसे मुसलमान कवि भी अपने काव्य विषय हिन्दू प्रेमाख्यानों को ही बनाया है और रहीम, रसखान जैसे मुसलमान कवि भी भारतीय संस्कृति से भिन्न नहीं थे, रसखान ने तो कृष्ण भक्त होकर यह साबित कर दिया कि भक्ति के लिए प्रेम की आवश्यकता होती है, न कि धार्मिक नियमों में बंधकर पालन करनेवाले बाह्याचारों की।

धार्मिक भेदभाव से रहित भक्ति काव्य की सामाजिक यथार्थता को डॉ॰ रामविलास शर्मा के शब्दों में देखें तो इस प्रकार है — "अनेक उदार विचारक मध्यकाल में हिन्दू और मुस्लिम सभ्यता के समन्वय की बात करते हैं। मुसलमान अनेक देशों से आये थे; उनकी जातियाँ और भाषाएँ भिन्न-भिन्न थीं। अरब, ईरानी, पठान, तुर्क -- इनका धर्म एक होते हुए भी इनकी जातीय संस्कृति अलग-अलग थीं। इसी तरह यहाँ भी बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब आदि की संस्कृति अलग-अलग थीं। इसीलिए पंजाब, बंगाल, ब्रज आदि में मुसलमानों ने जो कविता की थी, उसकी विषय वस्तु इस्लाम नहीं है, न इस्लाम और हिन्दू धर्म का समन्वय है, वरन् उसका मूल तत्त्व जनता की जातीय संस्कृति है। इसीलिए यह समन्वय की बात उदार लगते हुए भी अवैज्ञानिक है; उसका आधार धार्मिक आचार- विचार को संस्कृति

समझ बैठना है; उसका आधार यहाँ की जनता के सांस्कृतिक विकास को कम करके आँकना है।"[1]

अर्थात् भिन्न-भिन्न जातीय संस्कृतियों से आये हुए अरब, ईरानी, तुर्क, पठान आदि मुसलमान भारत में न केवल पूरी तरह से बस गये थे, बल्कि भारतीय संस्कृति को अपना भी चुके थे। इसीलिए उनके काव्य में भी भारतीय संस्कृति प्रतिबिंबित होती है।

भक्तिकाव्य की विषयवस्तु ही समकालीन सामाजिक यथार्थताएँ थीं। समाज के सभी पहलुओं से परिचित भक्त कवि इन सभी पहलुओं को अपने काव्य में स्थान देते हैं। कबीर, रैदास, दादू, गुरुनानक, जायसी आदि निर्गुण भक्तों एवं सूरदास, तुलसीदास जैसे सगुण भक्तों ने अपने काव्य में समकालीनता को अभिव्यक्ति दी। कबीर, दादू आदि निर्गुण भक्त कवियों ने राजनीति, समाज, आर्थिक परिस्थितियाँ, वर्गभेद, वर्णभेद, जातिभेद, सामंती शोषण, समाज में नारी जीवन आदि विषयों की ओर अपना ध्यान दिया था। इन सब विषमताओं का विरोध करते हुए वे सदाचार पर अधिक बल देते हैं, यह सदाचार ईश्वर

---

1. डॉ॰ रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ॰ 51

के नामस्मरण से संभव है। इस प्रकार सामाजिक पक्ष को आध्यात्मिक पक्ष से जोड़ते हैं और आध्यात्मिक पक्ष को सामाजिक पक्ष से।

"मेघ" तुलसी की रचनाओं में सामाजिक इतिहास लेखन विधि को देखते हैं। इसके लिए वे तुलसी के रचनाक्रम की छूट लेते हुए कहते हैं -- "रचनाक्रम को थोड़ा-सा छोड़ दें तो, व्यापक तौर पर देखें कि "रामललानहछू" में राम एक साधारण दूलह है जो गाँव के ठाकुर की तरह गालियों में रस लेते हैं। इसमें घरेलू जीवन के बीच नारियाँ हैं और शिव गायब हैं अर्थात् काम की मदहोशी छाई है। "बरवै" के राम राजनीति-निपुण हैं। "जानकी मंगल" में तत्कालीन विवाह संस्कार का वर्णन हुआ है। "गीतावली में ग्रामीण तथा शहरी लोकोत्सवों की भीड़ है। "विनय पत्रिका" में परब्रह्म राम स्वयं एक मध्यकालीन सम्राट के लक्षणों से विभूषित हैं। "मानस" में राम रघुकुलरीति पालक परब्रह्म अवतार भी हैं। "कवितावली" में ग्रामीण संस्कृति तथा कृषक समाज के आर्थिक दरिद्रता रूपी रावण का विकराल निरूपण हुआ है। ... रचनाओं के ये कुछ हाशिये तुलसीदास द्वारा इतिहास लेखन पद्धति के अभ्यास को उजागर करते हैं। इस अभ्यास में "सामाजिक इतिहास भी गुँथा है, सामाजिक इतिहास के राजनैतिक पक्ष, आर्थिक पक्ष

तथा सामाजिक पक्ष तीनों ही शामिल हैं।"[1]

इस प्रकार मेघ के कहे अनुसार, समूचा तुलसीकाव्य समकालीन सामाजिक इतिहास को ही पेश करता है। "विनयपत्रिका" के राम तो स्वयं मध्यकालीन सम्राट के रूप में सामने आते हैं। कवितावली में लोकसंस्कृति का चित्रण मिलता है।

मध्यकालीनता बोध हमें एक तुलसीकाव्य से ही नहीं, अन्य भक्तकवियों की रचनाओं से भी हो जाता है। रविदास को मध्यकालीन शोषणयुक्त कर विधान से असंतुष्ट जन-मन की ठीक पहचान थी। इसलिए वे भी तुलसी की तरह एक "आदर्शराज्य" की स्थापना की कल्पना करते हैं, इसमें किसी को भी किसी का दास बनना नहीं पड़ता और वहाँ "कर विधान" नाम की कोई चीज़ ही नहीं होती —

"बेगमपुरा सहर को नाउ।।
दूखु अंदोउ नहीं तिहि ठाउ।।
नां तसवीस खिराजु न मालु।।
खउफु न खाता न तरसु जवालु।।"[2]

---

1. रमेश कुंतल मेघ : "तुलसी की कवितावली" : सामाजिक इतिहास लेखन का एक प्रामाणिक काव्य दस्तावेज", आलोचना, पृ. 25-26
2. "गुरुग्रंथ साहब" -2, पृ. 183

इस पद में रविदास की समकालीनता बोध हो जाती है। इन्होंने अपने उस सुखी, चिंता रहित स्थान का नाम "बेग़मपुरा" (ग़म रहित नगर) रखा है और इस शहर में सब समान हैं। किसी भी प्रकार के भेद-भाव वहाँ नहीं हैं। इस प्रकार सन्त रविदास ने अपने आदर्श सुखी राज्य की कल्पना में भगवान को जोड देते हैं, जिसके समक्ष भक्त का उद्धार ही उद्धार हैं, पतन बिलकुल नहीं है।

डॉ॰ सावित्री चन्द्र के अनुसार, तुलसी-समाज इस प्रकार है -- "तुलसी ने समाज का वर्गीकरण दो प्रमुख रूपों में किया है, प्रथम वर्णाश्रम धर्म के अनुसार और द्वितीय मानवीय गुणों के आधार पर।

"बंदो प्रथम महीसुर चरना,
मोह जनित संसय सब हरना।
(मानस 1/2/2)

सोचिय बिप्र जो वेद बिहीना,
तजि निज धरमु विषय लयलीना।
(मानस 7/127/2)

विप्र निरच्छर लोलुप कामी,
निराचार सठ वृषली स्वामी।[1]
(मानस 7/100/4)

1· सावित्री चन्द्र : "तुलसी साहित्य में सामाजिक परिवेश :एक मूल्यांकन", आलोचना, अंक 30, पृ·32

इस प्रकार वर्णाश्रम धर्म के अनुसार समाज का विभाजन किया गया है जिसमें सर्वप्रथम महेश्वर की वंदना की जाती है।

"गुणाश्रयी विभाजन में तुलसी ने समाज को तीन श्रेणियों में, उत्तम, मध्यम एवं अधम, में विभक्त किया है। ... वह समाज में सज्जनों की अपेक्षा दुष्टों या खलों की संख्या बहुत अधिक बताते हैं।"[1]

आगे डॉ॰ सावित्री चन्द्र ने तुलसी द्वारा चित्रित समाज में ग्राम जीवन, नगर जीवन, काशी वर्णन, कृषि व्यवस्था आदि पक्षों पर भी रोशनी डाली है।

भक्त कवियों ने समाज से विमुख होकर भक्ति रचना नहीं की थी, इसका प्रमाण स्वयं उनका साहित्य ही देता है। समाज में तब ब्राह्मणों की बड़ी प्रतिष्ठा थी, उसे उन्होंने अपने काव्य के प्रारंभ में विप्रपूजा के रूप में वंदना करते हुए उनकी श्रेष्ठता को एक तरफ से स्वीकार करते ही है, दूसरी तरफ़ लोलुप, कामी ब्राह्मणों को त्यागने की बात भी करते हैं। परन्तु समाज का

---

1. सावित्री चन्द्र : "तुलसी साहित्य में सामाजिक परिवेश: एक मूल्यांकन", आलोचना, अंक 30 पृ॰ 32,33

प्रभाव भिन्न-भिन्न सामाजिक, साँस्कृतिक, वर्गीय पृष्ठभूमि वाले भक्तों पर उनके विचारों के अनुसार, भिन्न रूपों में होता हुआ देख सकते हैं। कबीर, दादू, रैदास आदि निम्न जाति के भक्तों ने वर्णयुक्त एवं वर्गयुक्त समाज को अलग रूप में लिया। उन्होंने इसकी घोर निंदा की, घोर विरोध किया। तुलसी, सूर जैसे उच्च वर्ण के सगुण भक्तों ने इस वर्णयुक्त समाज को एक आदर्श रूप में पुन: स्थापित करने की बात की है। उन्होंने वर्णयुक्त समाज को ही सुखी समाज बनाने की आकांक्षा व्यक्त की है।

वर्गहीन समाज को सुखी समाज माननेवाले भक्त और वर्गयुक्त आदर्श समाज को ही सुखी समाज माननेवाले भक्त दोनों ने अपनी-अपनी सामाजिक यथार्थताएँ और सामाजिक समझ के दायरे में ही इस प्रकार की घोषणा की है, परन्तु दोनों का उद्देश्य सुखी समाज की स्थापना ही रहा।

कबीर आदि निम्न जाति के भक्त कवियों को, निम्न जातियों को समाज में किस प्रकार ज़लील किया जाता था, उनके प्रत्यक्ष अनुभवों को महसूस करने से ही हमें पता चलता है। ये निम्न जातियाँ अधिक शोषण की शिकार थी, चाहे सामाजिक स्तर

पर हो, चाहे आर्थिक स्तर पर जबकि उच्च वर्ण के भक्तों के पास इस तरह ज़लील किये जाने की परंपरा नहीं थी। परन्तु रामविलास शर्मा जी लिखते हैं कि "वर्णाश्रम धर्म के समर्थक पुरोहितों ने तुलसीदास को काफ़ी सताया था।"[1] परंतु इस बात से यह तो साबित नहीं हो जाता है कि तुलसी के मन में जाति को लेकर कुंठा की भावनाएँ हो। मध्यकालीन ब्राह्मण-समाज ने एक तुलसी को क्या, सभी मानवतावादी भक्तों को ज़लील करने की चेष्टा की थी, क्योंकि इसमें उनके स्वार्थों की पूर्ति में कमी हो जाने का डर था। जो भी हो, तुलसी जन्म से ब्राह्मण थे, इस सत्य को ठुकराया नहीं जा सकता। इसलिए तुलसी को चाहे लोग कुछ भी कहकर ज़लील किये हो, उनके मन में जाति को लेकर हीन भावना अवश्य नहीं रही होगी।

इसीलिए जातिप्रथा के विरुद्ध लड़नेवाले निम्न वर्ग के भक्त कवियों का सामाजिक संदर्भ और उनके अनुभव, जाति-प्रथा का समर्थन करनेवाले भक्तकवियों के सामाजिक संदर्भ और अनुभवों से भिन्न होना स्वाभाविक है। फिर, उच्च जाति के भक्त कवि भी जातिगत भेदभावों का विरोध करते हैं, यह उनकी सामाजिक

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन," पृ. 76

समानता का भाव है, और उनका मानवतावाद है जो निम्न वर्णों एवं वर्गों के दु:ख, पीड़ा से द्रवित होकर निकलता है।

ऐसा भी नहीं है कि मध्यकाल में भक्त कवियों के सामने काव्य की विषयवस्तु के लिए सिर्फ "भक्तिभावना" ही अस्तित्व में था, दूसरा कोई क्षेत्र उनके आसपास नहीं था बल्कि इतिहास हमें बताता है कि उनकी पूर्ववर्ती काव्य प्रवृत्ति वीर काव्य प्रवृत्ति थी, श्रृंगारकाव्य भी थे, उसी प्रकार समकालीन काव्य प्रवृत्ति "भक्ति" के साथ साथ वीर एवं श्रृंगार भाव को भी लिये हुई थी। उत्तर मध्यकालीन काव्यप्रवृत्ति तो पूरी तरह से दरबारी संस्कृति की थी और उसमें राजाओं की श्रृंगार-पसंद प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति होती थी। राजाओं की चापलूसी में वीरकाव्य भी रचे गये थे। इस प्रकार विभिन्न प्रकार की काव्य प्रवृत्तियों के होते हुए भक्त कवि सामाजिक जीवन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं।

डॉ· रामविलास शर्मा के शब्दों में इस प्रवृत्ति को देखें -- "एक ओर दरबारी कविता की अतिशयोक्तियाँ हैं, वीर रस और श्रृंगार दोनों में ज़मीन-आसमान के कुलाबें मिलाये जाते हैं, अलंकारों की झड़ी लगा दी जाती है, दूसरी तरफ़ यह सन्त काव्य

है, जिसका झुकाव यथार्थवाद की ओर है। यह काव्य जनता के रीति-रिवाज़, उनके त्यौहार और आनंदोत्सव, उनके सुख और सौंदर्य की कामना ही प्रकट नहीं करता, वह जनता के दुख का भी प्रतिबिंब है, वह जन-जीवन की अनेक समस्याओं को बहुत स्पष्टता से पाठकों के सामने रखता है। तुलसीदास ने 'कवितावली' और 'विनयपत्रिका' के अनेक पदों में अपनी व्यथा का वर्णन किया है। यह वर्णन काल्पनिक नहीं है, यह राम को धोखा देने के लिए नहीं किया गया। तुलसी ने स्वयं ही कष्ट नहीं सहे थे वरन् सारे देश को कष्ट सहते देखा था। तुलसी की महत्ता का सबसे बड़ा कारण यह है कि मध्यकालीन कवियों में वह जनता की वेदना को सबसे ज्यादा समझते थे।"[1]

उपर्युक्त कथन से एक और बात स्पष्ट हो जाती है कि दरबारी काव्य में सिर्फ वीर और श्रृंगार का ही भरमार नहीं था, बल्कि ये दरबारी काव्य अपनी काव्य प्रतिष्ठा को बढ़ाने की दृष्टि से भी लिखे जाते थे। इसलिए इसमें अलंकार, छंद आदि काव्य लक्षणों की अभिव्यक्ति एवं निरूपण भी हुआ करते थे। इसके ठीक विपरीत सन्त काव्य सामाजिक जीवन की

---

1. डॉ॰ राम विलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ॰ 52

अभिव्यक्ति में काव्यशैली पर नहीं, काव्य विषय पर अधिक ध्यान देता है।

भक्ति -काव्य व्यंग्य शैली को भी बड़े सुचारु रूप में अपनाता है। कबीर के बाह्याचारों, मूर्तिपूजा, पाखण्डी पण्डितों के प्रति व्यंग्य एक ओर है, तो दूसरी ओर सूर की गोपियों का उद्धव के ज्ञान संदेश पर व्यंग्य है। समाज सुधारक के काम में व्यंग्य की अपनी महत्ता है।

डॉ॰ विजेन्द्र नारायण सिंह कबीर की वाणी में व्यंग्य की तीव्रता को कबीर के इस दोहे में बताते हैं --

"जो तूँ बाभन बभनीं जाया, तो आँन बाट ह्वै काहे न आया।
जो तूँ तुरक तुरकनीं जाया, तो भीतरि खतना क्यू न कराया।।"[1]

§कबीरग्रंथावली:श्यामसुंदर दास, "साखी," पृ॰ 214§

जाति-पाँति के भेदभाव, ब्राह्मण-शूद्र के वर्ण-भेद और ऊँच-नीच के स्तर भेद पर किया गया यह व्यंग्य समकालीन सामाजिक स्थिति के प्रति विरोध के साथ साथ जनता के आक्रोश का एक

1॰ डॉ॰ विजेन्द्र नारायण सिंह : "कबीर:ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह", "हिन्दुस्तानी", पृ॰ 145॰ §अंक 3-4§

रूप भी है।

कबीर ईश्वर - आराधना के लिए बाह्याचारों को आवश्यक नहीं मानते हैं। उनका अनुभव ज्ञान बताता है कि समाज में बाह्याडंबरों की प्रधानता हो गयी है, धर्म आचार-प्रधान हो गया है। तीर्थों, कर्मकाण्डों की प्रधानता हो गयी है। ये आचार-प्रधान धार्मिक कर्मकाण्ड एक हिन्दू धर्म में ही नहीं, इस्लाम में भी थे। इन सब बाह्याचारों की व्यर्थता को सीधे और स्पष्ट रूप में बताते हुए कबीर ने हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों पर प्रहार किया। हिन्दू धर्म में निहित जप, तप, तीर्थ, व्रत आदि की व्यर्थता को कबीर इस प्रकार बताते हैं --

"जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ व्रत बेसास।
सूवै सैंबल सेविया, यौं जग चल्या नीरस।।"[1]

इस्लाम धर्म में पाँच बार नमाज़ अदा करने के नियम को भी व्यर्थ बताते हैं। जब तक मन पवित्र नहीं है, तब कितने भी ऐसे बाह्याचार व्यर्थ ही हैं। कबीर का स्व-अनुभव ही होगा कि वे कई ऐसे मुसलमानों को देख होंगे कि पाँच वक़्त नमाज़ का

---

1. "कबीर ग्रंथावली": भगवत् स्वरूप मिश्र, पृ. 117.

रिवाज़ पूरा करने पर भी झूठ, धोखा आदि कर्म करते होंगे। आज भी हम ऐसे अनेक ढोंगी धर्मावलंबियों को देखते हैं कि हज करके भी इस्लाम-विरोधी कार्य करते हैं। इन्हीं ढोंगी धर्मावलंबियों की ओर कबीर का इशारा था कि भजन-पूजन से नहीं, ईश्वर तो मानव-प्रेम से मिल सकता है --

"यह सब झूठी बंदगी बरियाँ पंच निवाज।
साचै मारै झूठ पढ़ि, काजी करै अकाज।।"[1]

अर्थात् क़ाजी के इस प्रकार के दिखावे की बंदगी से एक तरह से वह अपनी ही हानि करता है, क्योंकि झूठी बन्दगी से खुदा और भी दूर चला जाता है।

हिन्दू-मुसलमान -- दोनों की आलोचना समान रूप से करते हुए कबीर अपनी निरपेक्ष धार्मिक भेदभाव को प्रकट करते हैं; ताकि उन्हें समाज में दोनों धर्मों से किसी एक धर्म का पक्षपाती न मान ले और दोनों धर्मों के लोगों को एक समान आकर्षित कर सकें --

---

1. "कबीर ग्रंथावली", भगवत् स्वरूप मिश्र, पृ. 113

"अरे इन दोहुन राह न पाई।

हिन्दू अपनी करे बड़ाई गागर छुअन न देई।

x x x

वेश्या के पाइन-तर सोवैं यह देखो हिंदुआई।

मुसलमान के पीर-औलिया मुर्गी मुर्गा खाई।

खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहि में करे सगाई।।"[1]

सामाजिक ऊँच-नीच, कुरीतियों, अंधविश्वास आदि का खुलकर विरोध करने के बाद ही, और समाज के उच्च वर्ग के शत्रु बनने का जोखिम उठाने के पश्चात् ही कबीर दूसरों को भी इस कार्य में शामिल होने का आमन्त्रण देते हैं --

"हमघर जारा अपना, लिया मुराड़ा हाथ।

अब घर जारौं तासु का, जो चले हमारे साथ।।"[2]

जिसमें इतनी हिम्मत हो कि अपना सब कुछ दाँव पर लगा सके, और जो कबीर के साथ चलने का इरादा कर लेता है, उसी को अपना सब कुछ त्यागने का अवसर मिलता है।

मध्ययुगीन समाज में जाति-पाँति के भेदभावों से छुटकारा पाना और छुटकारा दिलाना -- दोनों काम बहुत आवश्यक थे।

---

1. द्विवेदी : "कबीर", पृ. 353

2. वही, पृ. 165

निर्गुण भक्तों और सगुण भक्तों -- दोनों ने इसका पूर्ण रूप से विरोध किया। कबीर की वाणी में इसका रूप देखें --

"सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ।
साध ब्राह्मन साध छत्तरी, साधै जाती बनियाँ।
साधनमाँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पूछनियाँ।
साधे नाऊ साधे धोबी, साधे जाति है बरियाँ।
साधनमाँ रैदास सन्त हैं, सुपच ऋषि सों भंगियाँ।
हिन्दू-तुर्क दुई दीन बने हैं, कछू नहीं पहचानियाँ।"[1]

कबीर का कहना है कि साधु की जाति पूछना बेकार है, क्योंकि सभी जाति के लोग साधु हो चुके हैं। साधुओं में छत्तीस प्रकार की जातियाँ हैं, तो साधु को किस जाति के अंतर्गत रख सकते हैं ? साधु साधु होता है, बस, किसी जाति विशेष से उसे जोड़ना बड़ा अत्याचार होगा। साधुओं में ब्राह्मण, छत्तरी, बनियाँ, नाई, धोबी, चमार, भंगी आदि अनेक प्रकार की जातियों के लोग हैं। इनमें अनेक परम भक्त कवि हैं तो अनेक साधु-ऋषि भी हैं।

---

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली -4, कबीर, पृ. 377

अर्थात् कबीर का कहना यह है कि मनुष्य का सच्चा होना ही सबसे बड़ी बात है, उसकी जाति से कोई ताल्लुक नहीं रहता। इसीलिए कबीर सन्तों एवं साधुओं को अधिक महत्व देते हैं और जन-साधारण में भी साधुओं के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने में समर्थ हैं।

तुलसीदास तो जन-साधारण को यहाँ तक आश्वासन देते हैं कि भगवान का गोत्र ही भक्त का भी गोत्र है --

"मेरे जाति पाँति, न चाहौं काहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को।
लोक परलोक रघुनाथ ही के हाथ सब,
भारी है भरोसो "तुलसी" के एक नाम को।
अति ही अयाने उपख्यानो नहिं बूझैं लोग,
साहही को गोत गोत होत है गुलाम को।
साधु है असाधु, कै भलो कै पोच, सोच कहा,
का काहू के द्वार परौं ? जो हौं सो हौं राम को।।"[1]

जाति-पाँति की व्यर्थता का इससे अच्छा उदाहरण अन्य सगुण भक्तों में नहीं मिलता। तुलसीदास का कहना है कि वे जाति-

---

1. सं. सुधाकर पाण्डेय : "कवितावली", उत्तरकाण्ड, पृ. 158
पद. 107

पाँति में विश्वास नहीं रखते हैं। उन्हें तो एकमात्र राम नाम पर भरोसा है, बस। उनका यह भी कहना है कि किसी के द्वार पर तो जाकर उन्हें परेशान तो नहीं कर रहे हैं न, फिर क्यों दूसरों को उनकी जाति-पाँति से मतलब हो ? तुलसीदास कहते हैं कि लोग कितने मूर्ख और गँवार हैं कि वे यह कहावत भी नहीं समझते हैं कि स्वामी का गोत्र ही दास का भी गोत्र होता है।

अर्थात् भक्त के गोत्र, कुल को जानकर लोग क्या करेंगे ? भक्त का तो कोई कुल व गोत्र नहीं होता है, वह अपने ईश्वर के प्रेम में डूबा रहता है, भक्त का तो संबंध अपने आराध्य से होता है, किसी जाति-पाँति से नहीं।

इस प्रकार निर्गुण और सगुण दोनों संप्रदायों के भक्त कवि समकालीन सामाजिक दुराचारों से युक्त जाति व्यवस्था का पूर्ण रूप से विरोध करते हैं।

एक तरफ़ मध्यकालीन समाज सामंती शोषण का शिकार था, तो दूसरी ओर उस पर अकाल का विकराल रूप जनता का जीना दूभर कर दिया था। अकाल के समयों पर भी अधिकारी वर्ग कर चुकाने के लिए किसानों पर ज़ोर डालते थे। अकाल के कारण पीड़ित

भूखी जनता की करुण कहानी को तुलसीदास के काव्य में देखने को मिलता है --

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बलि,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग सीधमान, सोच-बस,
कहैं एक एकन सों कहाँ जाई, का करी ?
बेदहू पुरान कही, लोकहू बिलोकियत ,
साँकरे सबै पै राम रावरे कृपा करी ?
दारिद - दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु!
दुरित - दहन देखि तुलसी हहा करी।।"[1]

यह है अकाल का विकराल रूप कि, किसान की खेती नहीं है, भिखारी को भीख नहीं मिलता, व्यापारी का व्यापार ठप्प हो जाता है तो नौकर के लिए न कोई काम मिलता है। इस प्रकार जीविका विहीन होकर सभी लोग यही सोचते हैं कि कहाँ जाये और क्या करे ? दारिद्र्य समाज में इतना अधिक है कि इसे देखकर तुलसी अत्यंत व्याकुल हो जाते हैं।

इस प्रकार तुलसीदास अपने समाज की

---

1. सं. सुधाकर पाण्डेय : तुलसीदास : "कवितावली"- उत्तरकाण्ड, पद. 97

गरीबी, भुखमरी से द्रवित होकर अपने राम से प्रार्थना करते हैं कि समाज को इससे मुक्ति दिलाये और जनता के लिए भी यह सन्देश देते हैं कि एक राम का भरोसा ही इस प्रकार के दुखों से दूर कर सकता है।

तुलसी भूख की आग को और पेट की आग को अच्छी तरह जानते थे, इसीलिए उनकी रचनाओं में दरिद्रता पर ज़ोर दिया गया था जबकि अन्य सन्त कवि जो निर्गुण भक्त भी है, भूख पर अधिक बल नहीं देते हैं, क्योंकि वे अधिकतर व्यवसायी थे, जैसे, कबीर जुलाहा, रैदास चमार -- इस प्रकार वे अपनी वृत्तियों के द्वारा अपना जीवन गुज़ार लेते थे और वे उसी प्रकार दूसरों को भी करने के लिए कहते हैं और किसी के पास हाथ फैलाने जैसे काम के वे विरोधी भी थे।

तुलसीदास अर्थ की महत्ता को स्वीकार करते हैं। अकाल के समय पर कहिए या फिर अन्य समयों पर कहिए, चोरी, भीख आदि गुण मनुष्य में पेट की आग को बुझाने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। तुलसीदास ने अपने इस पद में भूख से पीड़ित मनुष्य किस प्रकार के काम करते हैं, इसका बड़ा मर्मान्तक चित्रण किया है --

"किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी भाँट,
चाकर, चपल, नट, चोर, चार, चेटकी,
पेट को पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन बन अहन अखेटकी।
ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि,
पेट ही को पचत बेंचत बेटा बेटकी।
तुलसी बुझाइ एक राम घनश्याम ही तें,
आगि बडबागि तें बड़ी है आगि पेट की।।"[1]

तुलसीदास पेट की आग को बडबाग्नि से भी बढ़कर मानते हैं, इसी आग को बुझाने के लिए लोग चोरी करते हैं, अनेक अधर्म के कार्य भी करते हैं, यहाँ तक कि अपने बेटा-बेटी तक को भी बेच डालते हैं।

समाज की ऐसी दुस्थिति से तुलसीदास अत्यंत दुखित है। इस दुस्थिति से समाज की रक्षा करने में अपने आपको असमर्थ जानकर ही तुलसीदास राम के शरण की बात करते हैं। तुलसीदास का मानसिक विश्वास था कि भगवान राम के शरण में जाने पर, इस प्रकार के दुखों से दूर हुआ जा सकता है।

---

1. "तुलसीदास :"कवितावली", सं. सुधाकर पाण्डेय, उत्तरकाण्ड, पद. 96

तुलसी की "कवितावली" में दृष्टिगत सामाजिक यथार्थता के विवेचन में डॉ॰ मेघ की एक महत्वपूर्ण टिप्पणी है कि "मध्यकालीन साहित्य में समाज के आर्थिक आधार को केवल तुलसी ही छू सके हैं — "सन्त" तुलसी।"[1]

आगे इसी विचार के विस्तार में मेघ "धन-शक्ति" का समकालीन समाज पर प्रभाव को तुलसीकाव्य के माध्यम से देखते हैं। मेघ का विचार है कि "टोडरमल ने देश के आर्थिक इतिहास का प्रशासकीय पक्ष दिया है, और तुलसीदास ने उसका सामाजिक अंतर्क्रियाओं वाला। ये दोनों मिलकर ही उस युग का पूरा फलक बनाते हैं और जिस एकमेव तथ्य को उद्घाटित करते हैं, वह भूमि-व्यवस्था है। तुलसीदास के भूमि और धन संबंधी ये निष्कर्ष भारतीय मध्यकालीन समाज शास्त्र के अध्ययन की सुव्यवस्थित भूमिका भी हैं। ··· उस समाज की तीन सबसे बड़ी कुरीतियाँ — सामंतीय भूमि-व्यवस्था से उत्पन्न "दरिद्रता" और उससे उत्पन्न "दुख" और उसके कारण लोकमंगल विरोधी "कार्य" [पाप] सिद्ध होती हैं जो आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक त्रयी को एक परिधि में बाँध लेती हैं।"[2]

1· रमेशकुंतल मेघ : "तुलसी: आधुनिक वातायन से," पृ· 74

2· वही, पृ· 75-76

मेघ के इस कथन से स्पष्ट होजाता है कि एक सन्त होने पर भी तुलसी की सामाजिक चेतना इतनी प्रखर थी कि, उनकी एक "कवितावली" ही मध्यकालीन समाजशास्त्र के अध्ययन की भूमिका प्रस्तुत करने में सक्षम है। परन्तु भक्त तुलसी अपनी इस क्षमता को आध्यात्मिक रूप में प्रस्तुत करते हैं जो दैहिक, भौतिक तथ्यों के साथ दैविक ताप "पाप" को भी बताता है।

मध्यकाल में "भक्ति" साहित्य सृजन के लिए प्रधान विचारधारा रही, इसीलिए मध्यकाल में समकालीनता भक्ति के माध्यम से ही व्यक्त की जाती थी और भक्ति की महत्ता की अभिव्यक्ति भी युगपरिवेश के अनुसार ही की जाती है, जिसे हम भक्त कवियों की वाणी में स्पष्ट देखते हैं।

भक्ति की महिमा :

मध्यकालीन सामाजिक परिस्थितियों में "भक्ति" एक ऐसी विचारधारा के रूप में सामने आती है, जिसमें समाज सुधार संभव हो सके। मनुष्य की परंपरागत आध्यात्मिक वृत्ति "भक्ति" से न केवल मुखर ही होती है बल्कि भक्ति की ओर उसका झुकाव सहज ही हो जाता है। सभी भक्त-कवि भक्ति की महत्ता का गान

करते थकते नहीं हैं। वे भक्ति को दुखों से मुक्ति दिलानेवाला एकमात्र साधन बताते हैं। निर्गुण भक्त और सगुण भक्त -- दोनों भगवान के नामस्मरण को महत्ता देते हैं। भक्तकवियों की वाणी में भक्ति की महिमा सर्वोपरि है।

डॉ· रामविलास शर्मा भक्ति को राष्ट्रीयता की भावना जगानेवाला तत्व भी बताते हैं। भक्ति-आंदोलन की व्यापकता को वे इस प्रकार बताते हैं -- "यह भक्ति-आंदोलन ब्रह्मदेश, अफ़गानिस्तान और ईरान की सीमाओं पर जाकर रुक जाता है; सिन्धु, काश्मीर, पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, तमिलनाडु आदि प्रदेशों पर भक्ति-आंदोलन की धारा पूरे वेग से बहती है। भक्तकवियों ने विभिन्न प्रदेशों को राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधने में कितना बड़ा काम किया, उसका मूल्य आँकना सहज नहीं है। इनके पास राजनीतिशास्त्र के कई ऐसे परिचित सूत्र नहीं थे, जिन्हें वे आये दिन दोहराते हुए जनता को एकताबद्ध करते। उन्होंने भावात्मक रूप से जनता को एक किया। इस भावात्मक एकता में मुख्य भाव था भक्ति का।"[1]

1· डॉ· रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ· 90

एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि भक्ति भावना भारत में एकता की स्थापना करते हुए, राष्ट्रीयता की भावना को भी जगाती है।

कबीर, नानक आदि सन्त महात्माओं ने देश में कई स्थानों में भक्ति का प्रचार-प्रसार किया। भक्तिपारवश्य में वे कवि ईश्वर को अपने माता-पिता, भाई, बंधु के रूप में देखते हैं अर्थात् सामाजिक स्तर पर भक्ति का महत्व इतना बढ़ जाता है कि स्वयं भगवान का रिश्ता भक्त के साथ बंधुत्व में बदल जाता है। दादू का एक पद देखें जिसमें निर्गुण ब्रह्म को वे अपना परिवार मान बैठते हैं --

"तूँही तूं हमारे, सेवग सुत हम राम तुम्हारे।।
माई बाप तूं साहिब मेरा, भगति हीन मैं सेवग तेरा।।
माता पिता तूं बंधव भाई, तुमही मेरे सजन सहाई।।
तुमही तातं तुमही मातं, तुमही जातं तुमही नातं।।
कुल कुटुंब सबही परिवारा, दादू का तूं तारणहारा।।[1]

---

1. परशुराम चतुर्वेदी : "दादू दयाल", पृ· 350

एक अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म को अपने पुत्र के रूप में, माता-पिता, भाई, बन्धु के रूप में और सेवक तथा साजन के रूप में ही नहीं बल्कि कुल, जाति, कुटुंब, समस्त परिवार के रूप में देखना सामाजिक स्तर पर भक्ति की महिमा को तद्वारा ईश्वर की महिमा को बढ़ाना ही है, जो काम मध्यकालीन भक्त कवि बड़ी आसानी से कर दिखाते हैं।

सगुण भक्त सूरदास के विनय के पद भक्ति परवशता के लिए उत्कृष्ट उदाहरण है। तुलसीदास की राम भक्ति का तो मिसाल ही नहीं है। विनय पत्रिका में वे अत्यंत विनय के साथ राम की स्तुति करते हुए अपने और जग के कष्टों को व्यक्त करते हैं, और "मानस" तुलसी के तारणकर्ता राम की पवित्र और वैभवपूर्ण कहानी है। इसमें तुलसी की राम-भक्ति की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति होती है।

सूरदास अपने आराध्य कृष्ण की भक्ति में पूर्ण रूप से लीन हो जाते हैं और अपने प्रभु को सभी प्रकार के दुखों को दूर करनेवाले एवं दुखितों के स्वामी मानते हैं --

"चरन-कमल बंदौ हरि-राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सब कुछ दरसाइ।
बहिरो सुनै, गूँग पनि बोले, रंक चले सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय, बार बार बंदौं तिहि पाइ।।"[1]

मंगलाचरण के इस पद में सूरदास अपने प्रभु का महिमागान करते हुए बताते हैं कि उनकी कृपा के कारण लंगडा पर्वत लांघ सकता है,. अंधा देख सकता है, बहरा सुन सकता है तथा गूँगा फिर से बोल सकता है। और एक सामान्य निर्धन भी सम्राट बन सकता है। सूरदास ऐसे महिमामंडित प्रभु के चरणों की वंदना करते हैं।

इस प्रकार वे भक्त कवि अपने प्रभु को सर्वशक्तिमान के रूप में देखते हैं। अपने आराध्य भगवान से वे न केवल परलोक सुधार की चाहत रखते हैं बल्कि, भौतिक कष्टों को दूर करनेवाले के रूप में भी उसे चाहते हैं।

इसी प्रकार तुलसी भी अपने राम को भौतिक देह धारण कर जगत के भौतिक दुखों को ही दूर करनेवाले तारणकर्ता के रूप में

---

1. डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा, "सूरसागर सार", सटीक, पृ॰ 17, पद॰1

बड़ा महत्व देते हैं --

"जो पै दूसरे कोउ होइ।
तौ हौं बारहिं बार प्रभु कत दुख सुनावौं सोइ।।
काहि ममता दीन पर, को पतित पावन नाम।
पापमूल अजामिलहि केहि दियो आपनो धाम।।
रहे-संभु-बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक।
सोक-सरि बूड़त करीसहिं दई काहु न टेक।।
बिपुल-भूपति-सदसि महँ नर नारि कह्यो "प्रभु-पाहि"।
सकल समरथ रहे काहु न बसन दीन्हों ताहि।।
एक मुख क्यों कहौं करुनासिन्धु के गुन गाय।
भक्तहित धरि देह काह न कियो कोसलनाथ।।
आपसे कहूं सौंपिये मोहि जो पै अतिहि घिनात।
दास तुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात।।"[1]

तुलसी एकमात्र अपने आराध्य को सबसे ऊपर स्थान देते हैं। द्रौपदी के शरण की पुकार सुनते ही वे ही उनकी लाज की रक्षा के लिए तत्पर थे जबकि वहाँ राज सभी में अनेक समर्थ पुरुष भी विद्यमान थे जो यह काम कर सकते थे। सिर्फ तुलसी के आराध्य राम ही

---

1. "विनयपत्रिका", सं. राजनाथ शर्मा , पृ. 438

दीनों की पुकार सुननेवाले हैं। भक्तों के हित के लिए ही देह धारण करनेवाले कोसलनाथ के चरणों को छोड़कर दास तुलसी और दूसरी जगह क्यों जाएगा ?

अत: स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति भी मात्र मुक्ति की कामना हेतु नहीं की गयी थी। समाज कल्याण की चाहत रखनेवाले भक्त कवि अपने-अपने आराध्यों के गुणगान भी इसी लोक रक्षक रूप के कारण ही करते हैं।

गुरु की महिमा :-

भक्तिकाव्य में "गुरु" को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। इतना अधिक कि कबीर ने गुरु और भगवान -- दोनों को एकाकार मानते हैं। कहीं कहीं गुरु का ही मूल्य भगवान से भी अधिक बताया गया है क्योंकि भगवान का दर्शन गुरु की वाणी से ही संभव है।

"गुरु गोबिन्द तौ एक है, दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवित मरै, तो पावै करतार।।[1]

---

1. डॉ. श्यामसुंदर दास, "कबीर ग्रंथावली", पृ. 3

"गुरु गोविन्द दोउ खड़े, काके लागू पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय।।"[1]

मध्ययुग में गुरु को इतना ऊँचा स्थान देने का कारण यही हो सकता है कि जनता सच्चाई के मार्ग पर चले, और उसके लिए रास्ता बतानेवाले लोग साधु-संत ही थे, जो "गुरु" माने जाते थे। कबीर तथा अन्य निर्गुण एवं सगुण भक्त गुरु की महिमा को अच्छी तरह जानते हैं और उन्होंने स्वयं गुरु से उपदेश ग्रहण कर भक्ति के नेक रास्ते को अपनाया था। कबीर और अन्य भक्त कवि गुरु को भी विशेषण जोड़कर "सद्गुरु" की महिमा पर बल देते हैं। केवल सद्गुरु ही अपने शिष्यों को सही रास्ता बता सकता है। दादू दयाल का यह पद देखें --

"भाई रे ऐसा सतगुर कहिए, भगति मुकति फल लहिए।
अविचल अमर अविनासी, अठसिधि नवनिधि दासी।
ऐसा सतगुर राया, चारि पदारथ पाया।।
अमी महारसिमाता, अमर अभै पद दाता।।
सतगुर त्रिभुवन तारे, दादू पार उतारे।।"[2]

---

1. डॉ. फ़ुल.की. राम अनंत : "कबीर ग्रंथावली" पृ. ११
2. परशुराम चतुर्वेदी; "दादूदयाल" पृ. 352.

जिस प्रकार वे भक्त कवि अपने अपने सद्गुरुओं से दीक्षा लेकर भक्ति-आंदोलन का नेतृत्व करते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने अनुयायियों के लिए भी सद्गुरु साबित होते हैं।

जन-साधारण को प्रवचन देने के लिए उन्हें इकट्ठा करना और अपनी ओर आकर्षित करना जरूरी था। इसीलिए वे गुरु की महिमा का विस्तृत प्रचार-प्रसार कर रहे थे। और इसके द्वारा जनता को आकर्षित कर उन्हें प्रवचन देते थे। इस प्रकार के कार्य में इनका प्रधान उद्देश्य यह था कि जन-साधारण तक अपनी बात पहुँचा सके ताकि जन-मानस में सामाजिक चेतना जागृत हो। उनका एक प्रांत से दूसरे प्रान्त जाने के पीछे भी यही कारण रहा कि समकालीन विषमताओं की जनता को सही पहचान उनके प्रवचनों द्वारा मिल सके और उसके विरोध में अपनी आवाज बुलंद करने के लिए उन्हें प्रेरित कर सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति जब तक नहीं हो सकती थी तब तक जनता को गुरुओं पर पूरा यक़ीन नहीं हो जाता।

मध्ययुग में ब्राह्मणों की पूजा अर्चना होती थी, चाहे वे कितने भी लालची क्यों न हो। उच्च वर्ण का होना ही ब्राह्मण के लिए काफी था, उनके ज्ञान की कोई परवाह नहीं की जाती

थी। कबीर वेद पण्डित ब्राह्मण से भी अधिक ज्ञानी साधु को ठहराते हैं, जिसके पास व्यवहार ज्ञान और लोकज्ञान का भण्डार है --

"ब्राह्मण गुरु जगत का, साधु का गुरु नाहिं।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिऊँ वेदों माँहि।।[1]"

सिर्फ चार वेदों तक के सीमित ज्ञान रखनेवाले ब्राह्मण को कबीर गुरु मानने के पक्ष में नहीं हैं। इसके बनिस्बत वे एक सच्चे और पारखी साधु को गुरु मान सकते हैं, चाहे वह साधु किसी भी जाति का क्यों न हो। और जगत तो ऐसा है कि ऊँचे वर्ण के होने मात्र से ब्राह्मण को गुरु मान लेता है, परन्तु वह ब्राह्मण एक व्यावहारिक ज्ञान रखनेवाले साधु के लिए तो गुरु बनने योग्य नहीं है।

इस प्रकार कबीर एक तरफ़ सद्गुरु की महिमा का प्रचार करते हैं तो दूसरी तरफ़ ढ़ोंगी गुरुओं का पर्दाफाश भी करते हैं। सन्तों की लोककल्याण-प्रवृत्ति ही इसके मूल में निहित है।

---

1. भगवत्प्रसाद मिश्र : "कबीर ग्रंथावली" पृ॰ 13

प्रेमतत्व :

भक्ति और प्रेम का परस्पर संबंध है। ईश्वरीय प्रेम भक्ति के साथ ही संभव है और ईश्वराराधना प्रेम से ही शुरु होती है।

भक्तकवियों ने यह संदेश दिया कि सर्वमानव के प्रति प्रेम, दया आदि भावों को रखने से ही भगवान की प्राप्ति होती है। इन भक्तकवियों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रेमतत्व को स्वयं भगवान का रूप घोषित करते हैं। इसीलिए सूर की गोपियाँ, राधा और समस्त ब्रजमंडल कृष्ण से प्रेम करता है। कृष्ण और गोपियों का प्रेम एक चिरस्मरणीय प्रेम रूप है, जो बिछुड़ने पर उसकी तीव्रता और अधिक हो जाती है।

भक्त कवि लौकिक प्रेम को आध्यात्मिक रूप में प्रस्तुत करते हैं। तुलसी के मानस में राम का परिवार प्रेम से परिपूर्ण है। भाई-भाई के बीच, पिता-पुत्रों के बीच, माता-पुत्रों के बीच और पति-पत्नी तथा सास-बहुओं के बीच प्रेम लौकिक समाज के साधारण पारिवारिक प्रेम ही है, जिसका आदर्श प्रस्तुत कर तुलसी समकालीन समाज के विद्वेषों को दूर कर जन- मानस को प्रेमरस में डुबोने की चाहत रखते हैं।

डॉ॰ शिवकुमार मिश्र कबीर की वाणी में प्रेम की महत्ता को पहचानते हुए बताते है कि "कबीर वर्ग, वर्ण, धर्म, जाति तथा संप्रदाय से परे इन्सानियत के मुरीद थे, उस प्रेम के पुजारी थे जहाँ बदले में कुछ पाना नहीं, महज़ देना ही देना है। और यह देना भी मामूली नहीं, सब कुछ से नाता तोड़कर अपने आपको ही दे देना है, अपना आपा खोकर उनके साथ आना है।"[1]

"कबीर यह घर प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारे मुँह धरे सो घर पैठे आहि।।"[2]

कबीर ऐसे प्रेम का ज़िक्र करते हैं कि उसे सिर देकर अर्थात् अपना सब कुछ देकर ही पा सकते हैं।

इस प्रकार के मानव सहज प्रेम भाव का मध्ययुगीन सामन्ती समाज में कोई महत्व नहीं था। प्रेम वहाँ भोगविलासी राजाओं के महलों तक सीमित था जिसकी स्वच्छता का कोई मूल्य नहीं था। प्रेम के मूल्य की आवश्यकता को पहचाननेवाले भक्तकवियों ने अपने काव्य द्वारा इसका प्रसार किया।

---

1. डॉ॰ शिवकुमार मिश्र : "भक्तिकाव्य और लोकजीवन" पृ॰ 38
2. श्यामसुंदर दास : "कबीर ग्रंथावली" पृ॰ 54

मध्ययुगीन भक्ति साहित्य में मीरा का गिरिधरगोपाल के प्रति प्रेम अनुपम है। प्रेम के साथ विरह भी लगा रहता है। मीरा का गिरिधरगोपाल के प्रति प्रेमभाव को, मीरा के राजघराने में कोई भी सहन नहीं करता था। इसीलिए मीरा को अनेक कठिन परीक्षाओं से गुजरना पड़ा। कहा जाता है कि कभी राणा उनके लिए विष भेज देता था तो कभी साँप को। कभी उनके सेज पर काँटे बिछाये जाते थे तो कभी उन्हें कमरे में बंद रखा जाता था। इसीलिए मीरा को खुलकर प्रभुकीर्तन करने का अवसर नहीं मिलता था। अपनी इस प्रवृत्ति में बाधा पड़ते देख मीरा और भी व्याकुल हो जाती थी, उन्हें अपने प्रियतम का विरह सहना बहुत कठिन लगता था। प्रेम की दीवानी मीरा के हृदय की पुकार है —

"हे री मैं तो प्रेम-दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस विध मिलणा होय।
गगन मण्डल पे सेज पिया की, किस विध मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाणे की जिन लाई होय।
दरद की मारी बन-बन डोलूं बेद मिल्या नहिं कोय।।
मीरा के प्रभु पीर मिटैगी जब बेद साँवलिया होय।।"[1]

---

1. डॉ॰ कृष्णदेव शर्मा : "मीराबाई-पदावली", पृ॰ 242

विरही मन की प्यास तभी बुझ सकती है, जब उसका प्रियतम सामने आ जाये। मीरा के दर्द की दवा भी उनका प्रियतम ही है। इसीलिए मीरा कहती है कि दरद की मारी बन-बन भटकने पर भी वैद्य नहीं मिला था, और उसकी पीड़ा तभी मिटेगी जब स्वयं उसके साँवरिया ही वैद्य हो।

मीरा के प्रेम से प्रेम की महत्ता का पता चल जाता है।

सूरदास की गोपियाँ भी कृष्ण के प्रेम में पागल थीं और कृष्ण के मथुरा जाने के पश्चात् उनके विरह में तड़पती थीं। जिन-जिन प्रदेशों में वे कृष्ण के संग मिलती थीं, खेलती थीं, वे प्रदेश अब अपने में सुनापन समाकर उनके हृदयों में टीस पैदा कर रहे हैं। उनके लिए वहाँ कोई आनंद नहीं है। उनके लिए इंतेजार करनेवाला या उनसे इंतेजार करानेवाला श्याम वहाँ पर मौजूद नहीं हैं। कृष्ण की अनुपस्थिति में जमुना का बहना वृथा लगता है अब सारा वन उनके लिए विषम ज्वालाओं की पूँज बनकर रह जाता है --

"बिन गोपाल बैरनि भईं कुंजें।
तब ये लता लगति अति सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुँजें।।

> वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूले, अलि गूँजैं।
> पवन पानि घनसार संजीवनि दधिसुत किरन भानु भईं भुँजैं।।

गोपियों के लिए तो कृष्ण के बिना पंछियों का बोलना भी वृथा लगता है, कमलों का खिलना, तथा भ्रमरों की गूँज -- सभी कुछ वृथा लगता है। और ठंडक देनेवाले चंदन, बादल, चन्द्रमा आदि सभी चीज़े सूरज के किरणों के समान जलानेवाली लगती हैं।

एक तरफ़ गोपियों का विरह अवतार-पुरुष भगवान के प्रति विरह था, तो दूसरी ओर भगवान कृष्ण भी ब्रज से प्यार करने के कारण उन्हें भी मथुरा में ब्रज की बहुत याद आती थी, इसीलिए तो कृष्ण उद्धव से कहते हैं --

> "ऊधो! मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।
> हंससुता की सुंदरि कगरी अरु कुंजन की छाहीं।।
> वे सुरभी, वे बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।।
> ग्वालबाल सब करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाहीं।।
> यह मथुरा कंचन की नगरी मनि-मुक्ताहल जाहीं।।
> जबहिं सुरति आवति वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं।।

---

1. रामचन्द्र शुक्ल : "भ्रमरगीतसार", पृ· 78 पद· 85

अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं।।"[1]

गोपियों का प्रेम ही ऐसा स्वच्छ एवं पूर्ण समर्पित था कि बदले में कृष्ण को भी उतना ही प्रेम ब्रज एवं गोपियों से हो जाता है। इसीलिए मथुरा में भी श्रीकृष्ण को यमुना का सुंदर तट, वहाँ के वृक्षों का छाँव, वे सुंदर फूल, उन फूलों से निकलती खुशबू, ग्वाल बालाओं का कोलाहल, इन सब की याद कृष्ण को जब भी आती है, तब वे अपने तन का सुध भूल जाते हैं।

अर्थात् प्रेम के बदले में प्रेम तभी मिल सकता है, जब वह पूर्ण रूप से समर्पित हो। कृष्ण और गोपियों तथा व्रज का प्रेम यहाँ अलौकिक प्रेम ही था, परन्तु इस अलौकिक प्रेम का वर्णन लौकिक प्रेम के रूप में ही सूरदास करते हैं, क्योंकि सूरदास मध्ययुग के भक्त कवि है, भक्ति एवं श्रद्धा भी इसी मध्ययुगीन स्थितियों के अनुरूप ही ठीक होते हैं। चाहे इस प्रेम को लौकिक रूप में ले या फिर अलौकिक रूप में, परन्तु इसकी महत्ता हर रूप में बनी रहती है।

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : "भ्रमरगीतसार", पृ. 160 पद 400

नारी-जीवन :

भक्त कवियों ने समकालीन नारी-जीवन को नज़र-अंदाज़ नहीं किया है। मध्ययुग में नारी के स्थान को भक्ति-काव्य द्वारा जान सकते हैं।

विश्वनाथ त्रिपाठी जी अपने लेख "वर्ण-व्यवस्था , नारी और भक्ति-आंदोलन" में मध्ययुगीन नारी-संघर्ष को बताते हैं। उनके अनुसार "भक्ति-आंदोलन की शुरुआत दक्षिण से हुई थी और आलवारों में एक महिला आण्डाल थी और प्रसिद्ध आलवार शठकोप ‍(नम्मालवार) शूद्र थे। यह इस तथ्य को प्रकट करता है कि भक्ति-आंदोलन का प्रारंभ ही वर्ण-व्यवस्था और नारी-पुरुष के भेद-भाव को तोड़नेवाला था।"[1]

मध्ययुग में जिस प्रकार वर्ण-व्यवस्था में अनेक भेद-भाव थे, उसी प्रकार नारी और पुरुष का समाज में बहुत अंतर था। नारी पुरुष से कई अर्थों में हीन मानी जाती थी। इसलिए नारी को घर के चार दीवारों के अन्दर कैद रहना पड़ता था। उच्च वर्णों में नारी की स्वतंत्रता एवं मूल्य उसके वर्ण एवं वर्ग के अनुसार

---

1. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी : "वर्ण-व्यवस्था, नारी और भक्ति-आंदोलन", आलोचना, पृ. 36

ही निर्धारित किये जाते थे। उच्च वर्ग की स्त्री, यानि राजघराने की स्त्रियों का एक तरफ़ बहुत ऊँचा दर्जा भी था, जैसे रज़िया सुल्तान , चाँद बीबी आदि स्त्रियों को शासन करते हुए देखते हैं, तो दूसरी तरफ़ उसी उच्च वर्ग की नारी को अंत:पुर में परदे में रखा जाता था।

मीरा उच्च कोटि की भक्त कवयित्री थी, जन्म उच्च कुल में हुआ था। परन्तु उसकी मर्यादा राजघराने में एक बहू की हैसियत की थी। ऐसे सामंती बन्धनों से घिरी मीरा अपनी भक्ति की तन्मयता में सभी बन्धन और रीति-रिवाज़ों को तोड़ते हुए सन्तों के समाज में जा बैठती है। भक्ति पारवश्य में लिखे गये कृष्ण-प्रेम संबंधी उनके पद ही संघर्ष को व्यक्त कर देते हैं।

विश्वनाथ त्रिपाठी जी ही का एक उद्धरण यहाँ देना उचित है — "भक्ति-आंदोलन नारी को भी घर से उसी तरह बाहर आने का निमंत्रण देता था जिस प्रकार पुरुष को। भक्ति की दृष्टि में नारी और पुरुष में अंतर नहीं। दोनों अंशी के अंश हैं। लेकिन सामन्ती-व्यवस्था नारी को विशेषत: उच्च वर्ग की नारी को -- घर से बाहर निकलने की आज्ञा नहीं दे सकता था। मीरा के भक्त-जीवन का यही मूल भौतिक संघर्ष था।"[1]

---

1. विश्वनाथ त्रिपाठी : "वर्ण-व्यवस्था, नारी और भक्ति-आंदोलन", पृ. 37

त्रिपाठीजी के कहे अनुसार, लेखक भक्ति-आंदोलन नारी का खुले दिल से स्वागत किया हो, परन्तु वह भी भक्ति-क्षेत्र में ही लागू था, वह भी पूर्ण रूप से नहीं, क्योंकि भक्त मीरा के भक्त-जीवन का संघर्ष ही इसका प्रबल प्रमाण है। मीरा को भक्ति-क्षेत्र में भी कितनी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी थी, वह छुपी हुई बात नहीं है। भक्ति में स्त्री और पुरुष को एक समान दर्जा देने की बात तो सिद्धांतों अथवा ग्रंथों तक ही सीमित है। विशेषकर मध्ययुग में जो कि भक्ति-आंदोलन का चरमोत्कर्ष का युग था और भक्ति-काव्य का स्वर्ण-युग था, उसी युग में स्त्री भक्त को कोई समुचित स्थान नहीं था, उसे बे तरह संघर्ष करना पड़ा था।

जहाँ विश्वनाथ त्रिपाठी जी कहते हैं भक्ति-आंदोलन नारी को पुरुष के समान बाहर आने का निमंत्रण देता है, और वे उच्च वर्ग की नारी के संबंध में इसकी सीमा को बताते हैं, तो दूसरी ओर डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय इसके विरोध में जाते हुए कहते हैं कि "उस युग में किसी स्त्री को भक्ति भी सुलभ न थी; क्योंकि स्त्री को भक्त रूप में स्वीकार करने के लिए व्यापक समाज की कौन कहे, साधु समाज भी तैयार न था।"[1] इसके प्रमाण में वे चौरासी

---

1. डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय : "भक्ति-आंदोलन और सूरदास का काव्य," पृ॰ 27

वैष्णवों की वार्ता" को तथ्य रूप में सामने रखते हैं कि "इस "वार्ता" में वल्लभ-संप्रदाय के भक्तों का गुणगान किया गया है, लेकिन मीराबाई को उसमें बुरा-भला कहा गया है और गालियाँ भी दी गयी हैं।"[1]

इस तथ्य से ही स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुगीन समाज में स्त्री का क्या स्थान था।

जहाँ पाण्डेय जी अन्य भक्त कवियों के प्रेम-संबंधी संघर्ष को भावजगत का संघर्ष बताते हैं वहाँ वे मीरा के संघर्ष को भौतिक जगत का संघर्ष बताते हैं। "कबीर, जायसी और सूर के सामने चुनौतियाँ और कठिनाइयाँ भावजगत की थीं। मीरा के सामने भाव जगत से अधिक भौतिक जगत की, सीधे पारिवारिक और सामाजिक जीवन की चुनौतियाँ तथा कठिनाइयाँ थीं। उस पुरुष-प्रधान सामन्ती-समाज में एक स्त्री वह भी मेड़ता के राठौड़ राजपूत कुल की बेटी और मेवाड़ के महाराणा परिवार की बहू, ऊपर से विधवा। यह था मीरा का अपना लोक। उसके धर्म और उसमें स्त्री की स्थिति का अनुमान किया जा सकता है। लेकिन

---

1. डॉ. मैनेजर पाण्डेय : "भक्ति-आंदोलन और सूरदास का काव्य" पृ. 27

उसके विरुद्ध विद्रोह की कल्पना भी कठिन है। मीरा ने उस आतंकवादी लोक और उसके भयावह धर्म के विरुद्ध खुला विद्रोह किया। उस विद्रोह का साक्षी है उसका जीवन और काव्य।"[1]

जिस "लोकधर्म" से विद्रोह करने की "कल्पना" भी नहीं किया जा सकती है, उस लोकधर्म से मीरा ने स्वयं विद्रोह किया था। मध्यकाल में नारी के लिए मीरा का जीवन ही पर्याप्त था कि वे उनके जीवन से प्रेरणा एवं धैर्य लेकर अपनी स्वतंत्रता के लिए लड़े। लेकिन, सभी नारियाँ "मीरा" नहीं हो सकतीं। मीरा कृष्ण-प्रेम की दीवानी थी, जो एक अवतार-पुरुष है और जिसके भौतिक रूप में जीवन्त उपस्थिति नहीं है। वह केवल एक मूर्ति के रूप में जिसका रूप मीरा के मन में बसा हुआ है —

"बसो मोरे नैयननि में नंदलाल।
मोहनी सूरत साँवरि सूरति, नैना बने विसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर वैजन्ती माल।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्तवछल गोपाल।।"[2]

---

1. मैनेजर पाण्डेय : "भक्ति-आंदोलन और सूरदास का काव्य;" पृ.4।
2. डॉ. कृष्णदेव शर्मा : "मीराबाई पदावली" पृ. 168

श्री कृष्ण की इस सुंदर छवि की स्तुति करती हुई मीरा, कृष्ण - प्रेम में विभोर है। इसी कृष्ण-प्रेम ने मीरा को लोकलाज और सामाजिक बंधनों की परवाह करने नहीं दिया।

इस सामंती समाज में नारी की स्थिति के प्रति भक्त कवियों की सहानुभूति थी। वे अच्छी तरह जानते थे कि नारी पराधीन है, वह पुरुष की तरह स्वतंत्र नहीं। पराधीनता कितनी पीड़ा-दायक होती है, इसका भी भक्त कवियों को अंदाज़ा था। इसलिए तुलसीदास लिखते हैं --

"कत विधि सृजी नारि जगमाही,
पराधीन सपनेहुं सुख नाहीं।"[1]

पराधीनता ऐसी चीज़ होती है कि "पराधीना" के लिए स्वप्न में भी सुख नहीं मिलता है। इसका मतलब यह हो सकता है कि अगर वह स्वाधीन हो जाये तो सुखी रह सकती है। नारी के लिए इससे अधिक प्रेरणास्पद बात और क्या हो सकती है कि उसके दुखी होने का कारण कोई बता दे, ताकि वह सुख का मार्ग खोज सके। यह काम मध्ययुगीन भक्त कवियों ने कर दिखाया है।

---

1. सं. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : "तुलसी ग्रंथावली" -प्रथम खण्ड, प्रथम सोपान, पृ. 47

नारी और प्रेम का अविनाभाव संबंध है, जहाँ नारी है, वहाँ प्रेम भी है।

डॉ॰ रामविलास शर्मा भक्तिकाव्य में प्रेम और नारी जीवन को भौतिक संदर्भ में बताते हैं और वे भक्ति-काव्य के प्रेम को दरबारी काव्य के प्रेम से अलग बताते हैं। उनके अनुसार सूर ने अलौकिक प्रेम के माध्यम से लौकिक प्रेम को ही अभिव्यक्ति दी है जिसे मध्यकालीन समाज अपना चुका था। उन्हीं के शब्दों में, "सूर ने राधा और गोपियों के प्रेम में भारतीय नारी के हृदय में छिपी हुई प्रेम की प्यास को वाणी दी। यह प्रेम कृष्ण के लिए है, अलौकिक है। सामंती-समाज में जाति-प्रथा, कुण्डलीचक्र, दहेज और संपत्ति के अनेक बंधन-बाधाएँ होते हुए भी कौन नहीं जानता कि निर्धन जनता में राधा और कृष्ण का-सा प्रेम लौकिक जीवन में, अपने लौकिक रूप में भी वर्तमान था ? सूर, मीरा, चण्डीदास आदि कवियों ने इसी वास्तविक प्रेम के गुण, प्रेम की सच्ची लगन, विरह की सच्ची व्यथा, सामाजिक बन्धनों की वास्तविक अवहेलना राधा और कृष्ण के प्रेम में चित्रित की है।··· राजदरबारी कविता में नारी के प्रेम को कभी वह स्थान न मिला था जो उसे सूर और मीरा ने दिया। नारी उपभोग की वस्तु

थी लेकिन उसे भी अपनी रुचि के अनुसार प्रेम करने का अधिकार है, यह बात दरबारी कवियों की समझ से परे थी। नारी के इस दबे हुए व्यक्तित्व को सूर और मीरा ने वाणी दी।"[1]

सूर के राधा, कृष्ण और गोपियाँ सामाजिक बन्धनों का तिरस्कार कर प्रेम की महत्ता को दर्शाते हैं। नारी के मनोभावों की ठीक-ठीक समझ हमें सूरदास, जायसी और मीरा में मिल जाती है, जिन्होंने नारी प्रेम के संयोग और वियोग , दोनों पक्षों को वाणी दी। नारी की विरह दशा सूर की गोपियों में, जायसी की नागमती में और स्वयं मीरा में पूर्ण रूप से सामने आती है। प्रिय के वियोग को झेलती हुई भी न टूटनेवाली नारियों के व्यक्तित्व को उन्होंने ऊँचा स्थान दिया। समकालीन समाज में नारी की दुस्थिति के प्रति अपनी सहानुभूति रखनेवाले भक्त कवियों ने नारी के भव्य और एक सुखी जीवन की आशा करते हुए, नारी की पीड़ा से समस्त युग को अवगत कराया।

मानवतावाद :

एक सच्चा भक्त होने के लिए सबसे पहले उसमें मानवतावाद

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ. 50

का होना आवश्यक है। मानवतावादी ही भक्त बनने के योग्य होता है। मध्ययुगीन भक्त कवियों के सच्चे भक्त होने में कोई सन्देह नहीं है जिसका प्रमाण समाजहित के पोषक उनकी रचनाएँ और उनके स्वयं के जीवन ही हैं। इसीलिए सभी भक्त कवि मानवतावादी ही साबित होते हैं।

कबीर, जायसी, दादू, रैदास, गुरुनानक आदि निर्गुण भक्त तथा तुलसी, सूर तथा अन्य अष्टछाप के कवि एवं मीरा में किसी एक कवि को भी अमानवतावादी नहीं कहा जा सकता। मानवतावाद के पोषक होने का मतलब यह है कि मनुष्य को मनुष्य की हैसियत से देखें, न कि उसके वर्ग, वर्ण, जाति आदि भेद-भावों के आधार पर। भक्तिकाव्य का समाज के लिए सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण सन्देश मानवतावाद की स्थापना रहा।

डॉ॰ रामविलास शर्मा तुलसी के मानवतावाद पर रोशनी डालते हुए कहते हैं कि, "उनकी मानवीय सहानुभूति निषाद, शबरी, सीता से प्रश्न करनेवाली ग्रामवधुओं आदि के संदर्भ में दिखाई देती है। जहाँ वे कलिकाल, दुर्भिक्ष, महामारी आदि का वर्णन करते हैं वहाँ उनकी यही सहानुभूति प्रकट होती है। तुलसी की नैतिकता का यही स्रोत है। सबसे बड़ा धर्म है,

दीनों की सेवा, सबसे बड़ा पाप है, उनका उत्पीड़न।...
इसीलिए उन्होंने प्रजा को सतानेवाले राजाओं के लिए नरक की
व्यवस्था की है --

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,
ते नृप अवसि नरक अधिकारी।"[1]

तुलसी का मानवतावाद ही था कि प्रजाकंटक राजा को नरक में
ही स्थान देते हैं। एक आदर्श रामराज्य की कल्पना, जिसमें
सभी सुखी रहने की आशा है, मानवतावाद की ही उपज है।

कबीर, रैदास, नानक, तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों
का मानवतावाद ही था, जिसमें जातिगत दुराचारों से ग्रस्त
सामाजिक जीवन में बदलाव लाने का प्रयत्न किया गया है।

डॉ॰ रामविलास शर्मा तुलसी की भक्ति की प्रतिष्ठा को
बताते हुए तुलसी की भक्ति को उनके मानवतावाद का प्रतिबिंब
मानते हुए कहते हैं कि "तुलसी की भक्ति उन सबकी संपत्ति है
जिनके पास और कोई संपत्ति नहीं है। यह भक्ति उन भक्तों

---

1. डॉ॰ रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ॰ 70

की संपत्ति है जिन्हें राम में आस्था है, वह उन लोगों की संपत्ति भी है जिनकी आस्था का केन्द्रबिन्दु मानव ही है। इसका कारण यह है कि अपने युग में मानवतावाद की सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा तुलसी की भक्ति में हुई है। ...भगवान बड़ा है, उससे बड़ा और कुछ नहीं हो सकता, तुलसी भगवान को और बड़ा न बना सकते थे। किन्तु भक्त भगवान की तुलना में छोटा होता है, तुलसी ने उसे बड़ा बनाया है।"[1]

"भव सहित खोजहि जो प्राणी पाव भगति मनि सब सुख खानी[2]
मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा राम ते अधिक राम कर दासा।"

भक्त को भगवान से बड़ा बताकर तुलसी भक्ति के मार्ग को सबके लिए आकर्षक बनाते हैं। जो भी भक्त सप्रेम भगवान को खोजता है, केवल वही सभी सुखों की खान "भक्त-मणि" को पाता है। अर्थात् "भक्ति" सभी प्रकार के सुखों को देनेवाली है। इस प्रकार तुलसीदास मानवतावाद की प्रतिष्ठा भक्ति के माध्यम से करते हैं।

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ. 72
2. सं. ज्वालाप्रसाद जी, "तुलसीदास:रामचरितमानस", उत्तरकांड, पृ. 910

निर्गुण-सगुण की समस्या :

मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन में निर्गुण और सगुण -- दो भिन्न-भिन्न धाराओं का चलन रहा। निर्गुण भक्तों का ब्रह्म अव्यक्त और निराकार है तो सगुण भक्तों का ब्रह्म व्यक्त और साकार है। परन्तु दोनों प्रकार के भक्तों का लक्ष्य ईश्वर - आराधना ही रहा। नामस्मरण को दोनों ने ही महत्व दिया और नामस्मरण द्वारा भगवान को पाने की उम्मीद दोनों में थी।

निर्गुण और सगुण की अपेक्षा इस आंदोलन में और भी अनेक प्रकार के मत चल पड़े थे। जैसे भक्ति के क्षेत्र में वैष्णव संप्रदाय और शैव संप्रदाय तथा ज्ञान और भक्ति, सामाजिक क्षेत्र में लोक और शास्त्र तथा गार्हस्थ्य और वैराग्य, भाषा के क्षेत्र में जन-भाषा और संस्कृत और दार्शनिक क्षेत्र में अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि अनेक मत प्रचलित थे।

जहाँ तुलसी को कुछ विद्वानों ने इन सारे मतों के समन्वयकर्ता के रूप में देखा है तो, कुछ विद्वान इन्हें निर्गुण-विरोधी एवं कोरे सगुण मतवादी भी माना है। विद्वानों के कहे अनुसार तुलसीदास

अगर निर्गुण मत के विरोधी ही थे तो, उन्हें,

"सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा,
गावहि मुनि पुरान बुध वेदा।"[1]

और

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।
अकथ अगाध अनादि अनूपा।"[2]

इस तरह दोनों की समानता दिखाने की क्या आवश्यकता थी ?

डॉ॰ मुक्तिबोध निर्गुण भक्ति-आंदोलन को सगुण भक्ति की अपेक्षा अधिक क्राँतिकारी मानते हैं और सगुण भक्ति को निर्गुण भक्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न धारा मानते हैं। इतना ही नहीं, वे निर्गुण भक्ति को निम्न वर्णों और वर्गों का जातिवाद विरोधी आंदोलन बताते हैं और सगुण धारा को वर्णाश्रम धर्म के समर्थक के रूप में उत्पन्न बताते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का प्रारंभिक प्रसार और विकास उच्च वंशीयों में हुआ। निर्गुण मत के विरुद्ध सगुण मत का संघर्ष निम्न वर्णों के विरुद्ध उच्च वंशीय संस्कारशील

1॰ सं॰ रामचन्द्र शुक्ल : "तुलसी ग्रंथावली", प्रथम खण्ड, "मानस", प्रथम सोपान, पृ॰ 52

2॰ सं॰ पंडित ज्वाला प्रसाद : "तुलसीदास : रामचरितमानस", बालकाण्ड, पृ॰ 23

अभिरुचिवालों का संघर्ष था। सगुण मत विजयी हुआ। उसका प्रारंभिक विकास कृष्णभक्ति के रूप में हुआ।"[1]

अर्थात् कृष्ण भक्ति और राम भक्ति धाराएँ इस जाति विरोधी निर्गुण भक्ति को दबा दी थीं, जो नितांत भ्रामक है। क्योंकि कृष्ण भक्ति में हम कहीं भी जाति-पाँति के भेदभावों को नहीं देखते हैं। उच्चकोटि के कृष्ण भक्त, जैसे सूर कभी उच्च वर्ग और वर्ण के पक्षपाती न रहे। सूर के कृष्ण, एक ग्वाल था। ग्वालों का जीवन जीनेवाले, पशुओं (गायों) को चरानेवाले चरवाहा था और गोपियाँ; विभिन्न जातियों की गोपियों के साथ प्रेम करने में कृष्ण कहीं पीछा नहीं हटते। गोपियाँ भी स्वयं कहती हैं,

"कहँ वे गोकुल की गोपी सब बरनहीन लघुजाती।
कहँ वे कमला के स्वामी संग मिल बैठीं इक पाँती।।"[2]

गोपियों की जाति, वर्ण से मतलब न रखनेवाले श्रीकृष्ण के भक्त सूरदास और निर्गुण और सगुण को एक ही ब्रह्म के दो

---

1. डॉ. मुक्तिबोध : "नई कविता का आत्म संघर्ष तथा अन्य निबंध", पृ. 89

2. सं. आचार्य रामचंद्र शुक्ल : "भ्रमरगीत-सार", पृ. 65 पद-28

स्वरूप माननेवाले तुलसी क्या निर्गुणवादियों के विरोध में जा सकते थे ? इनका मकसद भगवद् भक्ति रहा और लोकमंगल की भावना ही उनका जीवन।

डॉ॰ रामविलास शर्मा तुलसी के इस उभय पक्ष के उपासक रूप को बताते हुए कहते हैं कि "तुलसी जिस रूप या ब्रह्म के उपासक हैं, वह परोक्ष सत्ता नहीं है। वह उनके लिए प्रकट सत्य है। साथ ही उनका ब्रह्म प्रत्यक्ष सत्ता मात्र नहीं है। वह परोक्ष भी है और प्रत्यक्ष भी। इसीलिए तुलसीदास न विशुद्ध निर्गुणवादी है, न विशुद्ध सगुणवादी।"[1]

शर्मा जी आगे स्पष्ट कहते हैं कि नाम के आधार पर ही तुलसी निर्गुण और सगुणवादियों को एक करते हैं -- "नाम के बिना निर्गुणपन्थियों को भी निर्गुण ब्रह्म का पता नहीं लगता, इसलिए अगुन और सगुन के बीच तुलसीदास नाम को साखी मानते हैं, नाम के बिना ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, इसलिए

---

1. डॉ॰ रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ॰ 60

वह नाम को ब्रह्म से भी बड़ा मानते हैं —

"उभय अगम जुग सगम नाम तें
कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें
व्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी।
सत चेतन घन आनंद रासी।।"

(तुलसी, मानस, बालकाण्ड, नाम महिमा वर्णन)

इस तरह ब्रह्म को नाम से बाँध कर, नाम को ब्रह्म से भी बड़ा दिखाकर गोस्वामी जी ने ब्रह्म की अगोचरता पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। वास्तव में उनका सारा दर्शन ब्रह्म की गोचरता पर निर्भर है, इसीलिए संसार में उसकी "लीला" उनके लिए इतनी आकर्षक हो जाती है।"

इस प्रकार, तुलसीदास द्वारा नाम को ब्रह्म का ज्ञान दिलानेवाला बताया जाना, एक प्रकार से, निर्गुण ब्रह्म को "नाम" द्वारा सगुण रूप आपादित कर देना ही है। यहाँ तुलसी के ब्रह्म के सगुण रूप के प्रति लगाव संबंधी विचार ही प्रकट होते हैं न कि उनका निर्गुण के प्रति विरोध।"[1]

---

1. डॉ. रामविलास शर्मा : "परंपरा का मूल्यांकन", पृ. 83,84.

निर्गुण पन्थियों के लिए तो "नाम"ही सर्वस्व है। निर्गुण सन्तों की उपासना का मूलमन्त्र ही नाम स्मरण है।

"भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा क्रमनां, कबीर सुमिरण सार।।" [1]

कबीर का कहना है कि भगवान का नामस्मरण ही भक्ति है, बाकी सभी कार्य कोरे बाह्याडंबर हैं और दुख के कारण हैं। मन, वचन और कर्म द्वारा किया जानेवाला नामस्मरण ही सारयुक्त है।

इस प्रकार सिर्फ नामस्मरण ही नहीं, उसमें मन की शुद्धता द्वारा किया जानेवाला नामस्मरण ही भगवान का सच्चा भजन माना जाता है, जिसकी विशेषता हमें कबीर बताते हैं।

निर्गुण और सगुण की समस्या को विचारकों ने उलझा दिया है वरन् यह इतनी बड़ी समस्या नहीं थी, क्यों कि दोनों प्रकार के भक्तों ने एक अव्यक्त ब्रह्म के अस्तित्व को स्वीकारा

---

1. भगवत्स्वरूप मिश्र : "कबीर ग्रंथावली", पृ. 13

है और दोनों को उसके तारणकर्ता होने में कोई सन्देह नहीं है।

सर्वप्रथम निम्न वर्णों में ही निर्गुण भक्ति-आंदोलन विकास पाने के मूल में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का ही हाथ रहा। वह समाज निम्न वर्णों को अस्पृश्य क़रार देता था और उनका मन्दिर में प्रवेश निषिद्ध था।

अत: निर्गुण भक्ति मार्ग की स्थापना के कारणों में एक तो, सन्तों को भक्ति में बाह्याडंबरों आदि आधारों पर यक़ीन नहीं था, इसका वे खुलकर विरोध करते थे। दूसरे, इस भक्तिमार्ग द्वारा सभी प्रकार के धर्मावलंबियों को आकर्षित किया जा सकता था; क्योंकि इसमें किसी एक प्रत्यक्ष भगवान विशेष की मूर्ति अथवा उसकी उपासना नहीं है। इसमें लोग अपने मन के अनुसार ईश्वर-आराधना कर सकते थे। और फिर, मन्दिर में इन्हें स्थान भी नहीं मिलता था, इसलिए वे अपने निर्गुण ब्रह्म को घट-घट में समाया हुआ पाते हैं और उसे अपने ही मन में खोजने पर पा सकने की आशा भी देते हैं।

इस प्रकार भक्ति में निर्गुण विचारधारा एक सामाजिक आवश्यकता थी।

सगुण भक्ति का सामाजिक आधार तो उसका स्वयं भगवान के रूप पक्ष पर बल देना ही है। जब भगवान मनुष्य रूप में, मनुष्य का उद्धारक बनकर उपस्थित होता है, तो ऐसे भगवान की आराधना भक्तों के लिए सुगम लगने लगती है ताकि वे एक छवि विशेष को अपने मन में रख सके।

सगुण भक्ति को निर्गुण भक्ति की प्रतिक्रिया मानने की बात तो व्यर्थ ही है। दोनों आंदोलनों के अपने अपने सामाजिक संदर्भ हैं। किसी किसी को उपासना के लिए आलंबन की आवश्यकता महसूस होती है, तो वह सगुण भक्त होता है और किसी किसी को अव्यक्त सत्ता की आराधना में आनंद मिलता है तो वह निर्गुण भक्त होता है। यह भेद मनुष्य के रुचिविशेष पर आधारित है न कि एक दूसरे के विरोध में।

जनभाषा :

मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन के विकास में जन-भाषा अत्यंत महत्व रखता है। पंरपरागत काव्यभाषाएँ संस्कृत और अपभ्रंश से हटकर भक्त कवि अपने काव्य के लिए प्रादेशिक भाषाओं का प्रयोग करने लगे थे। भक्ति-आंदोलन का आविर्भाव ही लोक-कल्याण हेतु है, इसलिए, लोकभाषाओं में भक्तिकाव्य की अभिव्यक्ति

होना भी सामान्य बात है। जन-साधारण तक अपनी वाणी को पहुँचाने का माध्यम जन-भाषा ही हो सकती थी। इस प्रकार जन-भाषा में लिखे एवं गाये जाने के कारण भी, जन-साधारण के लिए भक्ति के सामाजिक महत्व को समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई थी। इस प्रकार भक्तिकाव्य प्रादेशिक भाषाओं के विकास में अपना योगदान देता है और प्रादेशिक भाषाएँ भी भक्तिकाव्य के सहारे अपने क्षेत्रीय महत्व को बढ़ाते हैं जिसे हम ब्रज और अवधी भाषाओं के विकास में देख सकते हैं।

x x x

सातवाँ अध्याय

भक्ति-आंदोलन में अवतारवाद और लीला

सातवाँ अध्याय

भक्ति-आंदोलन में अवतारवाद और लीला

1. अवतारवाद
2. लीला
3. भक्तिकाव्य में अवतारवाद

भक्ति-आंदोलन में अवतारवाद और लीला

अवतारवाद :

"हिन्दू धर्म कोश" में "अवतार" को ईश्वर का पृथ्वी पर अवतरण अथवा "उतरना" बताया गया है। "हिन्दुओं का विश्वास है कि ईश्वर यद्यपि सर्वव्यापी, सर्वदा सर्वत्र वर्तमान है, तथापि समय-समय पर आवश्यकतानुसार पृथ्वी पर विशिष्ट रूपों में स्वयं अपनी योगमाया से उत्पन्न होता है। परमात्मा या विष्णु के मुख्य अवतार दस हैं; मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध एवं कल्कि। इनमें मुख्य, गौण, पूर्ण और अंश रूपों के और भी अनेक भेद हैं। अवतार का हेतु ईश्वर की इच्छा है। दुष्कृतों के विनाश और साधुओं के परित्राण के लिए अवतार होता है। (भगवद्गीता 418) ··· किसी विशेष केन्द्र द्वारा सर्वव्यापक परमात्मा की शक्ति के प्रकट होने का नाम अवतार है। अवतार शब्द द्वारा अवतरण अर्थात् नीचे उतरने का भाव स्पष्ट होता है, जिसका तात्पर्य इस स्थल पर भावमूलक है।"[1]

हिन्दू धर्म कोश से यह बात स्पष्ट साबित हो जाती है कि

---

1. सं. डॉ. राजबली पाण्डेय : "हिन्दू धर्म कोश", पृ. 54

ईश्वर का विभिन्न रूपों में भिन्न भिन्न समयों में पृथ्वी को विनाश से बचाने के लिए अवतरण ही अवतारवाद है।

इसके अलावा हिन्दू धर्म कोश विविध प्रकार के धर्म ग्रंथों में अवतारों की संख्या में भिन्नता की जानकारी देता है तथा पुराणों के अनुसार इसकी संख्या को चौबीस बताता है। इस कोश ग्रंथ के अनुसार, "विभिन्न ग्रंथों में अवतारों की संख्या विभिन्न है। कहीं दस, कहीं सोलह और कहीं चौबीस अवतार बताये गये हैं, किंतु दस अवतार बहुमान्य है। कल्कि अवतार जिसे दसवाँ स्थान प्राप्त है वह भविष्य में होने वाला है।"

अत: स्थूल रूप से अवतारों की संख्या दस मानी गयी है। परंतु इनमें राम और कृष्ण-- दो ही अवतारों को प्रसिद्धि मिली है। इन दो अवतारों की प्रसिद्धि वाल्मीकी रामायण और वेदव्यास कृत महाभारत से होती है और भगवद्गीता की रचना भी श्रीकृष्ण को केन्द्र में रखकर की गयी है। इन मिथक महाकाव्यों के आधार पर ही मध्यकालीन भक्ति - भावना भी विकसित

---

1. सं. डॉ. राजबली पाण्डेय : हिन्दू धर्म कोश, पृ. 54

होती है। इसीलिए सम्भवत: जब मध्यकालीन भक्तकवियों को भक्ति के लिए एक आलंबन की आवश्यकता पड़ी, वे राम और कृष्ण को चुने होंगे।

मध्यकाल में तुलसीदास और सूरदास क्रमश: राम और कृष्ण के चरित्रों को अत्यंत महत्व प्रतिपादित करते हैं। "मानस" और "सूरसागर" में राम और कृष्ण के चरित्र पूर्ववर्ती मिथकीय रचनाओं में से कुछ अलग रूप में पाये जाते हैं। अर्थात् "मानस" के राजा राम के दरबार में मध्यकालीन मुगल दरबार की झलक मिल जाती है और उस समय के भारत में पड़नेवाले भयंकर अकाल का चित्रण तुलसी काव्य में देखने को मिलता है। उसी प्रकार सूर के कृष्ण का सामाजिक परिवेश मध्यकालीन सामाजिक परिवेश है, जिसमें मध्यकालीन "कर विधान" को नज़र अन्दाज नहीं किया गया है।

मतलब यह है कि कालक्रम में मिथक कथाएँ सामाजिक रूप लेकर, दुबारा प्रकट होती हैं। जिस प्रकार सामाजिक परिवर्तन चरित्रों में परिवर्तन ले आता है, उसी प्रकार इन प्राचीन धर्मग्रंथों में मान्य "धर्म" की परिभाषाएँ भी नये रूप में व्याख्यायित किये जाते हैं। अर्थात् धर्म की परिभाषाएँ बदलती जाती हैं।

तुलसीदास राम के पुन: जन्म लेने के अथवा अवतार ग्रहण करने का कारण इस प्रकार बताते हैं --

"जब जब होइ धरम कै हानी। बढ़हि असुर अधरम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहि बिप्र धेनु सुर धरनी।
तब तब प्रभु धरि विविध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।
असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहि निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस रामजन्म कर हेतु।।" 1

अर्थात् तुलसीदास राम के अवतार धारण करने का कारण यह बताते हैं कि जगत में जब भी धर्म की हानि होती है और नीच, अभिमानी असुर बढ़ जाते हैं और उनकी अनीति को कह नहीं सकते, और ब्राह्मण, गौ, देवता, पृथ्वी -- ये सब दु:खी हो जाते हैं। ऐसे समयों पर भगवान, विविध शरीरधारण कर, सज्जनों के कष्टों को दूर करते हैं।

और उनके जन्म लेने का एक कारण और भी है कि असुरों को मार कर देवताओं को राज्य देना, वेद मर्यादा की रक्षा करना और संसार में अपने यश का विस्तार करने के लिए भी जन्म लेते हैं।

---

1. सं. रामचंद्र शुक्ल : "तुलसी ग्रंथावली" प्रथम खण्ड, प्रथम सोपान, पृ. 54

इस प्रकार के तुलसीदास के विचारों से स्पष्ट विदित हो जाता है कि इन पर भगवद्गीता के "श्रीकृष्ण-वचनों", जो युग युग में अवतार लेने की बात करते हैं, का पूरा प्रभाव था, और तुलसीदास मध्यकालीन शासक वर्ग को असुरों की संज्ञा देते हुए, राज्य को उनके हाथ से छुड़ाकर दूसरे देव गुणोंवाले वर्ग को देना चाहते हैं। उनके आदर्श रामराज्य की कल्पना और राजा राम के आदर्श चरित्र की कल्पना के मूल में भी यही समाज कल्याण की भावना निहित है।

"भगवद्गीता" में भी भगवान को "धर्म" की रक्षा करने के लिए अवतरित माना गया है, जो मध्यकालीन भक्तकवियों के लिए विशेष आकर्षणीय रहा --

"यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम।। 7 ।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।। 8 ।।

---

1. राजीव गुप्ता : "श्रीमद्भगवद्गीता {यथारूप} 4/7,8 पृ. 165-167

अर्थात् भगवान श्रीकृष्ण का अर्जुन से कहना है कि "जिस-जिस देश-काल में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं अवतरित होता हूँ और भक्त जनों का उद्धार, दुष्टों का नाश और धर्म का फिर से स्थापन करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।"

कृष्णभक्त कवि सूरदास भी लगभग इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हैं। कृष्ण का सगुण रूप में अवतार अपने भक्तों के रक्षार्थ ही है। शरणागत की रक्षा करने के लिए कृष्ण उनकी पुकार सुनकर हाज़िर हो जाते हैं —

"जब जब दीननि कठिन परी।
जानत हौं, करुनामय जन कौं तब तब सुगम करी।
सभा मंझार दुष्ट दुस्सासन द्रौपदि आनि धरी।
सुमिरत पट कौ कोट बढ़्यौ तब, दुख-सागर उबरी।

x x x

तब तब रच्छा करी भगत पर जब जब बिपत्ति परी।
महामोह मैं पर्‌यौ सूर प्रभु, काहे सुधि बिसारी ?"[1]

---

1. सं. प्रो. राम : "बृहद् सूरसागर", पृ. 70 पद 15

सूरदास अपने प्रभु को दीनों की रक्षा हेतु प्रकट होनेवाले करुणा-निधान बताते हैं। सूरदास यह चाहते हैं कि भगवान हमेशा अव्यक्त ही न रहे, बल्कि आवश्यकता पड़ने पर अपने भक्त की पुकार सुनकर रक्षा के लिए प्रकट भी हो सके। इस प्रकार सूरदास एक ऐसे भगवान को प्रश्रय देते हैं, जो मनुष्य के पहुँच में हो। और मनुष्य के कठिन एवं दीन समयों पर आकर उनकी रक्षा करना, भगवान की लीला है, जो समय पड़ने पर ही दिखाते हैं।

धर्म की रक्षा के लिए भगवान अवतार ग्रहण करते हैं। यह बात तो स्पष्ट है, पर "धर्म" का अर्थ क्या लगाया जा सकता है, इसको समझना भी जरूरी है।

मार्क्सवाद ईश्वर को और धर्म को मनुष्य की उपज मानता है। राहुल सांकृत्यायन धर्म को मनुष्य की उपज बताते हुए कहते हैं कि "मनुष्य धर्म को बनाता है, धर्म मनुष्य को नहीं बनाता। ... यह राज्य और समाज है जो कि धर्म को पैदा करता है।... इसलिए धर्म के विरुद्ध लड़ना अप्रत्यक्ष रूपेण, उस दुनिया के विरुद्ध लड़ना है, जिसका आध्यात्मिक प्रभामंडल धर्म है।"[1]

---

1. राहुल सांकृत्यायन : "वैज्ञानिक भौतिकवाद", पृ. 58

अर्थात् धर्म को ईश्वर से ज़ोडकर देखने पर धर्म से लड़ने का मतलब ईश्वर संबंधी आध्यात्मिक दुनिया के विरुद्ध जाना ही है। और राहुल जी के कहे अनुसार धर्म को मनुष्य बनाता है, इसलिए हम कह सकते हैं कि कुछ विशेष युगीन परिस्थितियों में मनुष्य द्वारा बनाये गये धर्म में, परिस्थितियों में परिवर्तन होने पर पुन: उस धर्म में परिवर्तन करने का अधिकार भी मनुष्य रखता है। इसीलिए धर्म की व्याख्या भी युगानुरूप बदलती जाती है।

आगे राहुल जी धर्म को मानव हितकारी नहीं बल्कि उसे मानव का पीड़ादायक बताते हैं --"सभी देशों का इतिहास और भारत का ख़ास तौर से, इस बात का साक्षी है कि धर्म से बढ़कर मनुष्य को पतित, दास, उपेक्षित, घृणास्पद बनानेवाला दूसरा कारण नहीं हो सकता। भारतीय मानवता को छिन्न भिन्न करने में सबसे ज़बर्दस्त हाथ धर्म का रहा है। कहा जाता है, धर्म का कोई क़सूर नहीं, क़सूर है स्वार्थी लोगों का, जो कि उसे अपने फ़ायदे के लिए ग़लत तौर से इस्तेमाल करते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि कोई ऐसा भी ज़माना था जबकि धर्म की धरोहर रखनेवाले सिर्फ़ नि:स्वार्थी व्यक्ति होते थे। लेकिन इसका पता इतिहास से तो नहीं

मिलता। ऋग्वेद के ऋषियों से लेकर अन्तिम ऋषि तुलसीदास तक चले आइये। बाबा के शब्दों में इतिहास का फैसला है --

सुरनर मुनि की येही रीती।
स्वारथ लाइ करहिं सब प्रीती।"[1]

मनुष्य अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु धर्म की परिकल्पना करता है। इसलिए कुछ विशेष वर्गों के स्वार्थों की पूर्ति करनेवाले "धर्म" की बुनियाद स्वार्थ पर ही रखा हुआ है।

राहुल जी धर्म की उत्पत्ति को इस प्रकार बताते हैं, "धर्म का आरंभ मानव के जीविकोत्पादनार्थ समाज बना लेने तथा भाषा के कुछ विकसित हो जाने पर हुआ और इसका पूरा विकास तो दासता-युग तथा सामंत युग के समय प्रभुवर्ग ने किया। वस्तुत: धर्म की सारी कल्पना, इसके देवताओं का निर्माण, उसी दासता तथा सामन्त-युग के मानव-समाज की नकल है।"[2]

मानव सभ्यता के विकास क्रम में धर्म, प्रभुवर्ग अर्थात् सत्ताधारी वर्ग द्वारा विकसित किया गया और उसी वर्ग के पक्ष में, उसी

---

1. राहुल सांकृत्यायन : "वैज्ञानिक भौतिकवाद", पृ. 59
2. वही, पृ. 61.

वर्ग के लिए लाभदायक रहा। अन्य वर्गों के शोषण के लिए माध्यम बनाया गया।

"धर्म" शब्द, जो वाल्मीकि और तुलसीदास के काव्यों में प्रयुक्त है, के अर्थ को हम देखें, तो यहाँ "धर्म" वर्ण धर्म, आश्रम धर्म के साथ-साथ नीति-नियम की संज्ञा देता है। इसी धर्म की स्थापना के लिए ही भगवान पृथ्वी पर रूप धारण कर अवतरित होने की बात कही गयी है।

वर्ण धर्म का अर्थ है चातुर्वर्ण्य धर्म का पालन करना। अर्थात्, समाज को मनुष्य की योग्यताओं के अनुसार, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में विभाजित किया गया है। और आश्रम धर्म का अर्थ, मनुष्य के जीवन-विधान में चार आश्रमों, जैसे, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास का पालन करना बताया गया है। इस प्रकार वर्ण धर्म और आश्रम धर्म को मिलाकर "वर्णाश्रम धर्म" कहा गया है।

इसके अलावा भी "हिन्दी शब्द सागर" धर्म के और भी अनेक अर्थों की जानकारी देता है। जैसे, "धर्म का अर्थ है 'कर्तव्य', 'स्वभाव', मीमाँसा के अनुसार, 'वेदविहित यज्ञादि कर्म है',

उन्हीं का विधिपूर्वक अनुष्ठान' धर्म है। 'सुकृत'। 'सदाचार'। श्रेय'। 'पुण्य' सत्कर्म' आदि और' किसी आचार्य या महात्मा द्वारा प्रवर्तित ईश्वर, परलोक आदि के संबंध में विशेष रूप का विश्वास और आराधना की विशेष प्रणाली'। 'उपासनाभेद'। 'मत'। 'संप्रदाय'। 'पंथ'। 'मज़हब'। जैसे हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म।"

वर्णाश्रम धर्म के साथ-साथ नीति-नियमों और सदाचार का पालन करना ही यहाँ वास्तविक अर्थ में "धर्म" है। समाज में जब भी इसके आचरण में अव्यवस्था उत्पन्न होती है और समाज नीतिहीन होकर अपने मनमाने आचरण करने लगता है, और जिस कारण सज्जनों को दुस्थिति हो जाती है, और अधर्मी लोग बढ़ जाते हैं, उन समयों पर इसी "धर्म" की पुन:स्थापना द्वारा पृथ्वी की रक्षा हेतु ईश्वर अवतार लेता है।

तुलसी और सुर जैसे भक्त कवियों के लिए मध्ययुगीन परिस्थितियाँ भी अव्यवस्थित लगी थीं। संस्कृत के पण्डित एवं पुराणों के जानकार रामभक्त तुलसी अपने समकालीन अव्यवस्थित समाज की रक्षा के लिए अपने परम आराध्य भगवान "राम" में वे सभी गुण आपादित

---

1. "हिन्दी शब्द सागर" -पंचम भाग, मूल संपादक :श्यामसुंदरदास पृ. 2436

करते हैं जो एक "आदर्श समाज" के लिए आवश्यक होते हैं। वे राम को ब्रह्म का सगुण अवतार बताते हैं --

"भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप।।
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपुन होइ न सोइ।।"[1]

सूरदास भी एक निर्गुण ब्रह्म के अस्तित्व को मानते हैं, उस अव्यक्त ब्रह्म की महत्ता को खूब पहचानते हैं, फिर भी, आराधना के लिए एक आलम्बन को आवश्यक मानते हुए सगुण अवतार-पुरुष "कृष्ण" की उपासना करते हैं --

"अबिगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगे मीठे फल कौ रस अंतरगत हीं भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौं अगम-अगोचर, सो जाने जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै।।"[2]

---

1. सं. रामचन्द्र शुक्ल : "तुलसी ग्रंथावली," -प्रथम खण्ड, "मानस", सप्तम सोपान, पृ. 447

2. धीरेन्द्र वर्मा : "सूरसागर : सटीक" पृ. 17 पद-2

सूर मानते हैं कि निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति का आनन्द अत्यंत उच्चकोटि का है, तथा निरन्तर असीम सन्तोष प्रदान करनेवाला है, परन्तु गूँगे के मुँह में गुड के स्वाद के समान वह उसका अनुभव कर सकता है, मगर उसकी वाणी से अभिव्यक्ति नहीं कर सकता। इस प्रकार यह ब्रह्म वाणी द्वारा दुर्बोध एवं अग्राह्य और इंद्रियातीत होने के कारण ही सूर तथा अन्य सगुण भक्त इसके सगुण रूप का गुणगान करते हैं और भक्ति के लिए साकार आलंबन पाकर अत्यंत संतुष्ट होते हैं।

इन सगुण भक्तों ने सगुण ईश्वर के चित्रण द्वारा समाज को उपासना के लिए एक आलंबन ही नहीं दिया बल्कि उसके चरित्र को सबसे ऊँचा और समाज के कल्याणकारी के रूप में चित्रित कर जन-साधारण को आकृष्ट किया।

डॉ· राँगेय राघव विष्णु और शिव भक्ति की व्यापकता को जनता में विद्रोह की शक्ति को बढ़ने का सूचक मानते हैं। तुलसीदास के इस कथन जो कि "शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर मोहि सपनेहु नहीं भावा" को राँगेयराघव जी विष्णु और शिव भक्तों के बीच झगड़े को दूर करने के लिए लिखे गये

वाक्य मानते हैं। उनके अनुसार मध्यकालीन भारतीय आंदोलन, जो धर्म के नाम पर चलाये गये थे, वे वास्तव में समाज सुधार के आंदोलन थे। उन्हीं के शब्दों में -- "क्या यह महत्वपूर्ण बात नहीं है कि भारतीय मध्यकाल के सारे जन-आंदोलन वैष्णव और शैव सन्तों द्वारा ही अधिकतर चलाये गये और धर्म के लिए ही सारे आंदोलन उठते हुए दिखाई देते हैं। लेकिन अगर गौर से देखा जाय तो साफ स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के नाम पर उठा हुआ हर एक आंदोलन इन सन्तों के हाथों में समाज-सुधार का आंदोलन बन जाया करता था। जो भी सन्त जनता में जो सुधार करना चाहता था, वह अपने भगवान में ही वह गुण बताता था, जैसे गुरु गोरखनाथ ने वाममार्ग की कुरीतियों को हटाया तो शिव के योगी रूप पर ज़ोर दिया, दक्षिण के आलवार सन्तों ने जाति-प्रथा हटाई तो कहा कि भगवान तो बराबरी चाहते हैं, नामदेव ने नीच जातियों को उठाया तो कहा कि भगवान तो दु:खियों को प्यार करते हैं।"[1]

राघव जी के कहे अनुसार धार्मिक आंदोलन समाज सुधार का उद्देश्य लेकर जन- आंदोलन बन जाते हैं। इसमें जाति-प्रथा एवं

---

1. "रांगेयराघव ग्रंथावली-10; "धर्म की मानववादी परंपरा और विकास", पृ. 143

कुरीतियों के प्रति लड़ना एक प्रकार से समकालीन शोषण व्यवस्था के प्रति लड़ना ही था। परन्तु इसका माध्यम मध्यकाल में भक्ति रहा।

लीला :

ईश्वर का [मानवरूपमें] पृथ्वी पर अवतरित होने के पश्चात् पृथ्वी के रक्षणार्थ उसके द्वारा किये जानेवाले अद्भुत कार्यों की शृंखला ही "लीला" है। ऐसे महान पुरुष विरले ही जन्म लेते हैं। आम जनता को जो कार्य दुस्तर लगते हैं, अवतार पुरुषों के लिए वे बहुत आसान होते हैं। सीमित शक्ति एवं सीमित बुद्धि रखनेवाले मानव से ऐसे करामतों की अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। सीमाओं को सृजन करनेवाली, आदमी की सीमाओं का निर्धारण करनेवाली, आकाश, पृथ्वी, प्रकृति, समस्त जीवराशियों, यहाँ तक कि इस अनंत विश्व को अपने संकेतों पर चलानेवाली शक्ति जो असीम है, अपार है, अनंत है, जब स्वयं ही सीमित आकार में, सामान्य जीव के रूप में पृथ्वी पर अवतरित होती है, तब ऐसी महान शक्ति से "लीला" संभव हो सकती है।

राम के अवतार से त्रेता युग में दुष्ट शिक्षण तथा शिष्ट रक्षण का कार्य तो संपन्न हुआ। किंतु राम का अवतार बड़ा गंभीर

था। धर्म-रक्षण हेतु नर का रूप धारण कर राम को स्वयं भी अनेक कष्ट सहने पड़े थे। जन-मानस को चिंताओं से मुक्त करने के लिए जिस विनोद की, जिस मधुरता की, जिस ब्रह्मानंद की आवश्यकता थी, वह सब कृष्ण के अवतार में निहित है। इस अवतार में बाल-लीला के अंतर्गत कृष्ण कन्हैया के छिछोरेपन से भरे शोरगुल भी है, नादानियत से भरी चालाकी भी है, ग्वालबालाओं से अठखेलियाँ भी हैं, ब्रज की अहीर कन्याओं से रँगरेलियाँ भी हैं, खेल-तमाशे से भरे छेड़-छाड़ और झूठ-मूठ के झगड़े-फरियाद भी हैं और खेल ही खेल में दुष्ट से दुष्ट असुरों का भंजन भी है। ब्रज में कन्हैया ने ब्रजवासियों के घरों घुसकर न केवल मक्खन ही चुराया बल्कि उनके हृदय भी चुराये हैं। उनकी मक्खन-चोरी ने ब्रज के कई घरों में सास-बहू के संबंधों को बिगाड़ दिया है तो उनकी हृदय-चोरी ने इन अहीरों को निर्गुण-उपदेश लेकर ब्रज आये उद्धव को ताने देने पर मजबूर किया।

ब्रज में कृष्ण का रास रचाना, पूर्णिमा को रातों में उसकी मुरलीतान सुनकर ब्रज की अहीर कन्याएँ, पत्नियाँ, जो भी काम हो, उसे वहीं पर वैसा ही छोड़ कर कन्हैया के पास आ जाती थीं। उन्हें उस समय घरों में डाँट-फटकार सुनने की कोई सुध नहीं थी। उनके मन में कृष्ण ही कृष्ण है। उसे देखते रहना, उसको

सुनते रहना उनके लिए एक अद्भुत अनुभूति है। ब्रज की स्त्रियों में कन्हैया के प्रति अटूट मोह है, लगाव है। नादान भक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण हमें ब्रजवासियों में ही मिलता है।

स्वयं भगवान, जिसको पाने के लिए ब्रह्मादि देवताएँ, सनकादि महामुनि गण निरंतर घोर तपस्या में लगे रहते हैं, ब्रज में कन्हैया बनकर आया। उन्हें हँसाया, रुलाया। सूर ने बाल मनोविज्ञान संबंधी सभी बातों को अपने मनोनेत्र से देख लिया और उन्हें कन्हैया में अंकित किया --

"निरखि निरखि अपने प्रतिबिंब, हँसत किलकत औ
पीछैं चितै फेरि-फेरि मैया-मैया बोले।
ज्यों अलिगन सहित बिमल जलज जलहिं धार रहे
कुटिल अलक बदन की छवि अवनी परि डोले।"[1]

कन्हैया अपने प्रतिबिंब को देख देखकर किलकारियाँ भर रहा है। बार बार पीछे मुड़कर देखता है और बिना किसी वजह अपनी माँ को पुकारते पुकारते उसकी जीभ भी नहीं थकती। ऐसे ही अनेक प्रसंगों में हमें बाल-मानेविज्ञान संबंधी पद सूरसागर में

---

1. सं. डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी : "हमारे कवि और लेखक" पृ. 59

कन्हैया की बाल-लीलाओं के अंतर्गत मिलते हैं।

जब कृष्ण मथुरा चला जाता है, तब उस अवतार की गंभीरता शुरु होती है। कंस दमन, कुवलयापीडन का वध, शिशुपाल वध, ऐसे अनेक दुष्टों का संहार करता है और अंत में कुरुक्षेत्र संग्राम में अर्जुन को अपने अवतार का वास्तविक परिचय देकर उसका मोह छुड़वाता है, तद्वारा पाण्डवों को विजयी बनाकर उन्हें सिंहासन पर बिठाता है।

इस तरह कृष्ण के अवतार में सभी रसों की पुष्टि मिलने के कारण "संपूर्ण अवतार" माना गया है: जिसमें "बाल-लीला" भी शामिल है और "तरुण लीला" भी।

भक्तिकाव्य में अवतारवाद :

जिस प्रकार धर्म और उससे जुड़े देवता मनुष्य की उपज है, उसी प्रकार उस परब्रह्म से संबंधित अवतारवाद की धारणा भी मनुष्य की ही उपज माना जाना चाहिए। क्योंकि जब मनुष्य को अलौकिक शक्ति के अज्ञात रूप से तृप्ति नहीं हुई थी तो वह उसके लौकिक रूप की कल्पना करता है। परब्रह्म के इसी रूप पक्ष को "अवतार" की संज्ञा दी गयी है।

अवतारवाद की कल्पना के इस विचार का विकास मध्यकाल में एक नया रूप ले लेता है। मध्यकालीन भक्त कवि अपने आराध्य भगवान के चरित्र को मध्यकालीन सामाजिक ढाँचे के अनुरूप ढाल लेते हैं और उसके चरित्र को इतना ऊँचा उठा देते हैं कि जहाँ कहीं भी सामाजिक व्यवस्था की गतिविधियाँ उन्हें अव्यवस्थित एवं असंगत लगती हैं वहाँ उनका परिष्करण वे अपने अवतार पुरुषों के चरित्रों और उनकी लीलाओं के द्वारा कर देते हैं। ऐसा

परिष्करण एक साधारण मनुष्य के लिए असंभव होता है।

डॉ॰ रमेशकुंतल मेघ, डॉ॰ प्रेमशंकर मध्यकालीन अवतारवाद का सामाजिक विवेचन प्रस्तुत करते हुए इन अवतार-पुरुषों को चरितनायकों की संज्ञा देते हैं।

मेघ के अनुसार, मध्यकालीन काव्य में अवतारवाद का महत्व इस प्रकार है, "भारतीय मध्यकाल के भक्तिसाहित्य में देवता ही चरितनायक तथा शूरनायक हो गये हैं। इसलिए देवताओं की आध्यात्मिकता और चरितनायिकों की आदर्शात्मकता का अनूठा संयोग हुआ है। अवतारवाद मध्यकालीन साहित्य की महत्तम उपलब्धि है। भक्ति साहित्य-प्रधान मध्यकालीन चरण में रामवृत्त और कृष्णवृत्त अवतारवादी प्रभामण्डल से पूर्णतः आलोकित हो उठे।"[1]

अर्थात् तुलसी और सूर दोनों ने अपने-अपने आराध्य देव, राम और कृष्ण में देवत्व के साथ साथ आदर्श चरितनायक के गुणों को भी मिलाकर एक नितांत नये चरित्र की स्थापना की, जिसकी मध्ययुग में आवश्यकता थी।

1• डॉ॰ रमेशकुंतल मेघ : "तुलसी : आधुनिक वातायन से", पृ॰ 5,6

मेघ तुलसी के राम को समाज में नैतिक मूल्यों को पुन:स्थापित करने के लिए अवतरित बताते हैं। उनका कहना है कि अवतार-पुरुष राम द्वारा मध्यकालीन समाज के खोये हुए विश्वास को पुन: लौटाने की तुलसी ने चेष्टा की है। वे कहते हैं, "हिन्दू जन समूह में एक खोया हुआ विश्वास सर्वव्यापी विराट विश्वास होकर पुन: लौट आया कि अनैतिक समाज का शुद्धीकरण वेद-मर्यादा पालन से हो सकता है, अत्याचारी शासकों, सम्राटों को पदच्युत करने में चाहे वे कितने ही असमर्थ हों लेकिन अवतार राम उनका भंजन कर देंगे।··· सगुण अवतार राम को मध्यकालीन जन जीवन की मर्यादा का इतना सर्वव्यापी सर्वसाधारण मानदण्ड बना देना तुलसी की आर्केटाइपल भारतीयता का महत् उत्कर्ष है।"[1]

मध्यकालीन शासक वर्ग के अत्याचारों से समाज को रक्षा करने के लिए ही तुलसी "राम" के प्रभु रूप अर्थात् राजा के रूप की कल्पना करते हैं, जो समाज में आतंककारी सभी परिस्थितियों को नाश कर सकता है। क्योंकि तुलसी का विश्वास है कि किसी मनुष्य द्वारा इस समाज का सुधार संभव नहीं है, इसलिए उन्होंने

---

1. डॉ· रमेश कुंतल मेघ : "तुलसी : आधुनिक वातायन से", पृ· 136

सोद्देश्य ही ब्रह्म के अवतार-पुरुष "राम"को अपना काव्य-नायक बनाया। तुलसी का गहरा विश्वास यह भी था कि मध्यकालीन अनैतिक परिस्थितियों में नैतिक मूल्यों के रक्षक और स्वयं उसके पालन करनेवाले की आवश्यकता है और ये सभी गुण तुलसी अपने राम में पाते हैं। राम के मर्यादा रूप को, और भी आदर्शयुक्त बनाकर , उनके लोक कल्याणकारी व्यक्तित्व का प्रसार करते हैं ताकि जन साधारण के लिए राम का अवतार-रूप आकर्षक रहे और इस प्रकार राम-भक्तों की संख्या बढ़ने से, राम शीघ्र ही उन पर अपनी कृपा दृष्टि रखेंगे।

डॉ॰ प्रेमशंकर भी "राम" को मध्यकालीन चरितनायक के रूप में विवेचन करते हैं। उनकी मान्यता है कि तुलसी और सूर ने अवतार की साकारी कल्पना के माध्यम से समकालीन सामाजिक टकराओं को ही दूर करने का प्रयास किया था। मध्यकालीन राम और कृष्ण भक्त कवि राम और कृष्ण को त्रिदेव में एकीकरण करने के कारण ही समाज में उपासकों के बीच एकता स्थापित कर सके थे। और सूर अपने आराध्य देव कृष्ण को लोकजीवन से संबद्ध करने के द्वारा समकालीन सामाजिक जीवन में उत्साह और आत्मबल उत्पन्न करने में सफल हो सके थे।

आगे लेखक प्रेमशंकर, राम और कृष्ण के अवतारों की सृष्टि को मध्यकालीन परिवेश से जोड़कर देखते हैं। क्योंकि मध्यकालीन भक्त कवि मिथक कथा को लेकर रचना करने पर भी उस काव्य में तत्कालीन समाज अनायास ही प्रतिबिंबित हो जाता है।

एक मिथक अथवा ऐतिहासिक कथा को काल-क्रम में सामाजिक रूप में चित्रण करने के लिए कवि को कितना संघर्ष करना पड़ता है, और इसमें सफलता प्राप्त करनेवाले कवियों की महत्ता, को लेखक इस प्रकार बताते हैं, "स्थिति यह है कि इतिहास के क्रियाशील पात्र कई बार मौखिक गाथाओं के विषय बनकर लोकजीवन में इतना घुलमिल जाते हैं कि उनके चरित्र के चारों ओर अलौकिक घटनाओं का ताना-बाना बुना जाने लगता है, वे पौराणिक दुनिया में प्रवेश करा दिये जाते हैं। कोई सार्थक रचनाकार इन पात्रों को फिर उठाता है और अपने समय, समाज की भूमि पर उन्हें नये सिरे से गढ़ता है; यह एक प्रकार से उन चरित्रों की पुनर्सृष्टि है। यह कार्य सरल नहीं क्योंकि सर्वप्रथम उस लोकप्रचलित व्यूह को तोड़ना होगा जो उस व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द मौजूद हैं। और तब उसे अपने समय की ज़मीन पर लाना होगा। पौराणिकता से संघर्ष करने में राम-कृष्ण कवियों ने

संघर्ष किया, इसमें संदेह नहीं।"[1]

उपर्युक्त कथन से पता चलता है कि मध्यकालीन राम और कृष्ण भक्त कवियों ने, राम और कृष्ण काव्यों को अपने लोक-प्रचलित पौराणिकता से बाहर कर, उन्हें मध्यकालीन परिवेश में एक नये व्यक्तित्व के साथ चरितनायकों के रूप में प्रस्तुत किया। परन्तु इस काम में सभी कृष्ण भक्त और रामभक्त कवि सफल नहीं हो सके थे। सफलता प्राप्त करनेवालों में तुलसी और सूरदास ही हैं। इसलिए भी इन दोनों के काव्यों को इतनी प्रसिद्धि मिली है।

यहाँ राम के विशिष्ट व्यक्तित्व से अभिप्राय है कि तुलसी के राम पूर्ववर्ती रामकाव्यों में चित्रित राम के चरित्र से भिन्न और आदर्शयुक्त व्यक्तित्व रखते हैं।

"मानस" के राम के व्यक्तित्व की विशेषताओं को प्रेमशंकर जी इस प्रकार बताते हैं, "तुलसी के राम मध्यकालीन समाज में एक लोकधर्मी कथानायक के रूप में अवतरित होते हैं, जैसे कवि एक समानांतर नेतृत्व अथवा आध्यात्मिक सम्राट की तलाश कर रहा हो जो क्षेत्र-विस्तार में रुचि नहीं लेता, वैभव से चमत्कृत

---

1. डॉ॰ प्रेमशंकर : "भक्तिकाव्य की सामाजिक साँस्कृतिक चेतना" पृ॰ 72

नहीं करना चाहता और न रोब-दाब से आतंकित करने की इच्छा ही उसमें है। राम राजभवन में रहकर भी संघर्षरत हैं; विश्वामित्र के आश्रम में जाकर राक्षसों का वध करते हैं और प्रिया भी उन्हें आसानी से नहीं मिल पाई। सीता को राम ने गहरे संघर्ष में पाया था।"[1]

तुलसी ने अपने आराध्य देव राम में उन सारे गुणों को आरोपित किया है जो एक सामंती राजा के गुणों से पूरी तरह विरोध में जाते हैं। सामंत राजा हो अथवा सम्राट, उसे हमेशा अपने क्षेत्र-विस्तार का लत लगा हुआ रहता है, उसका समस्त जीवन-विधान ही अत्यंत वैभवयुक्त होता है, रोब जमा कर अपने से निम्न-स्तर के व्यक्तियों को दबाकर रखना ही वह अपना कर्तव्य समझने लगता है और एक से अनेक राणियों से अंत:पुर की शोभा बढ़ाना उसके लिए साधारण बात है।

इस प्रकार मध्ययुगीन सत्ताधारी वर्ग के आतंक से पीड़ित समाज को, उसकी दुस्थिति से ऊपर उठाने के लिए ही तुलसी ने "राम" के चरित्र का निर्माण एक आदर्श "राजा" के रूप में किया था, जो राजवैभोग को आसानी से त्यागकर वनवास करता है और लोकमंगल के कार्य में अपना सारा जीवन बिता देता है।

---

1. डॉ. प्रेमशंकर : "भक्तिकाव्य की सामाजिक, सांस्कृतिक चेतना" पृ. 73.

राम के ऐसे उदात्त चरित्र का निर्माण भी युगीन आवश्यकता के रूप में ही प्रकट होता है।

मध्यकाल में अवतारवाद मध्यकालीन समाज के अनुरूप ही होता है, जैसे सूरदास अपने कृष्ण को जाति-पाँति के भेद-भाव न रखनेवाले एक उदार व्यक्तित्व के रूप में चित्रण करते हैं। क्योंकि मध्ययुग में जाति, कुल, गोत्र आदि के नाम पर अनेक अत्याचार होते थे जिसकी हमने पहले ही चर्चा की है, मध्ययुगीन इन जातिगत परिस्थितियों से समाज के गिरते हुए मूल्यों का अवलोकन करके ही, सामयिक वातावरण से प्रभावित होकर ह्रास की दिशा में यान करनेवाले उस समाज की दुस्थिति को देखने के बाद ही सूर ने अपने प्रभु को इन सब भेदभावों से परे प्रतिष्ठित किया है--

"राम भक्तवत्सल निज बानौं।
जाति, गोत, कुल नाम गनत नहिं, रंक होइ के रानौं।
x x x x
सूरदास-प्रभु को महिमा अति, साखी बेद पुरानौ।।"[1]

---

1. धीरेन्द्र वर्मा : "सूरसागर सटीक"" पृ. 19 पद 5

राजा हो या साधारण प्रजा, सूर के प्रभु इसकी कुछ भी परवाह नहीं करते, वे केवल भक्त-रूप को ही देखते हैं। और शरणागत की रक्षा अवश्य करते हैं।

रांगेयराघव जी के इस कथन कि "जो भी सन्त जनता में जो सुधार करना चाहता था, वह अपने भगवान में ही वह गुण बताता था," से ही हमें ईश्वर के सामाजिक व्यक्तित्व का एहसास हो जाता है। यही कारण है कि सूरदास अपने प्रभु श्रीकृष्ण में समकालीन जाति विरोधी बात को आपादित कर देते हैं और कुल जाति से संबंध न रखते हुए अपने कृष्ण को गोपियों का प्यार लेते हुए और गोपियों से प्यार करते हुए चित्रण करते हैं। सूर के कृष्ण समस्त ब्रजमण्डल के सखा, बन्धु, भाई रहे। यहाँ किसी भी प्रकार के ऊँच - नीच के भेदभाव के लिए स्थान नहीं, सिर्फ प्यार ही प्यार है। समय पड़ने पर वे दुष्टों का वध करके ब्रज को और मथुरा को कष्टों से बचाते भी हैं। इस प्रकार सूर के लीलावतारी कृष्ण एक सामाजिक के रूप में अवतरित होकर, समाज में बुराइयों के जड पर ही वार करते हैं।

उसी प्रकार तुलसी के सगुण साकार राम भी हैं। तुलसी भी अपने राम को लोक-कल्याणार्थ ही गढ़ा है और समाज में नैतिक मूल्यों की स्थापना करनेवाले के रूप में दर्शाया है। राम के माध्यम

से सामाजिक संबंधों में प्रेम को बढ़ावा दिया है और समय पड़ने पर वे भी समाज कल्याण हेतु दुष्टों का संहरण करनेवाले के रूप में हमारे सामने आते हैं।

डॉ॰ मेघ भी यही मानते हैं कि ईश्वर की धारणा का विकास मानव आवश्यकताओं के अनुरूप ही होता है। तुलसी के "राम" के चरित्र में पाये जानेवाले गुणों के आधार पर ही मेघ तुलसीदास के व्यक्तित्व का अनुशीलन करते हैं। उनके अनुसार, "मानवीय आवश्यकताओं के अनुरूप ही इष्ट-देवता को जटिल और विविध धारणाओं का विकास होता है। ... जब तुलसी को स्नेह की जरूरत हुई तब राम प्रेम स्वरूप हो गये, जब आश्रय की अपेक्षा हुई तब राम स्वामी हो गये, जब अपने पापों के हरण की याचना हुई तब राम मुक्तिदाता हो गये, जब उन्हें भवसागर में मार्ग खोजने में सन्देह हुआ तब राम अन्तिम सत्य हो गये। तुलसी ने अपने भाव से राम की उपासना की। उनमें दो भाव प्रधान हैं : आश्रय की भावना, तथा नैतिक संस्कार। अकेले वे ही "अनाथ" तथा "अभागे" नहीं थे, किन्तु प्रतीक भाषा में तो उनके युग की प्रजा भी अनाथ और अभागी थी। तुलसी ने मानवीय तनाव-खिंचावों को नयी धार्मिक-संबंधात्मकता से रूपांतरित कर दिया है जिनमें दास्य भाव की प्रधानता है। जगत्

तथा माया संबंधी अवधारणाओं को तो शांकर चेतना से ग्रहण करते हैं, लेकिन अवतार और भक्ति की धारणाओं में मानवतावादी हो जाते हैं।"[1]

दास्य भाव की प्रधानता के कारण तुलसी अपने आपको राम के दास के रूप में चित्रण करते हैं। "विनय पत्रिका" में तुलसी के इस प्रकार के विचार अधिक मुखर हो उठते हैं --

"तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज-हारी।।
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो।।
ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ही ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब विधि-हेतु मेरो।।
तोहिं मोहि नाते अनेक, मानिए जो भावै।
ज्यौं त्यौं तुलसी कृपालु! चरन-सरन पावै।।"[2]

तुलसी अपने आराध्य को दयालू, दानि, तथा अनाथों के नाथ मानते हैं और अपने आपको उनकी दया का याचक। इतना ही

---

1. डॉ॰ रमेशकुंतल मेघ : "तुलसी : आधुनिक वातायन से," पृ॰ 121
2. सं॰ रामचन्द्र शुक्ल : "तुलसी ग्रंथावली" -द्वितीय खण्ड, "विनय पत्रिका" पद 79, पृ॰ 418

नहीं, तुलसी राम में अपने सारे रिश्ते-नातों को देखते हैं, उन्हीं को अपने माता-पिता, गुरु, सखा, अपना हित करनेवाला और अपना सबकुछ मानते हैं और राम से प्रार्थना करते हैं कि अपने आपस के रिश्ते अनेक हैं, जो रिश्ता आपको पसंद आता है, उसी रिश्ते को मानिये।" तुलसी अपने राम को अपने जैसे जीवों की रक्षा करनेवाले शरणागत रक्षक के रूप में भी मानते हैं।

अपने आपको दास बनाकर उनके शरण में जाने का अर्थ यही है कि समकालीन समाज की पीड़ाओं एवं दुखों से बचने के लिए एकमात्र राम पर ही भरोसा किया जा सकता है। अवतार-पुरुष राम ही इसका उद्धार कर सकते हैं।

एक भक्त के लोकमंगल की चाहत की भावना का व्यक्तीकरण अपने आराध्य देव के अवतारी रूप द्वारा ही होता है, जिसमें किसी भी प्रकार के दुख, दर्द को दूर करने की क्षमता रहती है। तुलसी के राम ऐसे ही सर्वशक्तिमान अवतार-पुरुष हैं जो मध्यकालीन समाज की रक्षा हेतु तुलसी काव्य में जन्म लेते हैं।

अधिकतर यह देखा जाता है कि निर्गुण भक्त भगवान के निर्गुण रूप की उपासना करते हैं और उनका ब्रह्म रूपरहित और अगोचर है। परंतु हमने पहले भी इस बात को बताया है कि निर्गुण भक्तों

का भी उपासना के लिए एकमात्र आधार "नाम-स्मरण" ही है। नाम-स्मरण के लिए वे ब्रह्म के कई नाम 'राम', 'श्याम', 'करीम', 'हरि', आदि नामों को इस्तेमाल करते हैं जो सगुण भक्तों के सगुण ईश्वर के भी नाम हैं। इसी प्रकार निर्गुण भक्त भी सगुण भक्तों की तरह ईश्वर में अपना समस्त परिवार देखते हैं और उससे अनेक पारिवारिक नाते जोड़ते हैं। जैसे दादू का एक पद है, जिसे हमने पहले भी उद्धृत किया है, कि वे राम-नाम को लेकर अपने ब्रह्म से कहते हैं कि वे ही अपने माता-पिता है, वही अपना बंधु और भाई है वे हमारे स्वामी है और हम उनके सेवक हैं।

निर्गुण भक्तों में कबीर भी निर्गुण ब्रह्म को अपना पति मानते हैं और अपने आपको उसकी स्त्री। अपने भगवान से मिलने की चाहत कबीर के लिए एक विरही पत्नी का अपने पति से मिलने की चाहत के समान है। जीवात्मा और परमात्मा के मिलन के प्रतीक के रूप में ही सही, परन्तु कबीर इन संबंधों को साधारण पारिवारिक संबंधों के आधार पर ही स्थापित करते हैं, किसी अन्य अलौकिक रूपों को उन्होंने नहीं गढ़ा है। कबीर का यह पद जो निम्नलिखित है, एक स्तर पर रहस्यवादी

होते हुए भी, भौतिक जीवन को किस प्रकार प्रतिबिंबित करता है, देख सकते हैं —

"दुलहनी गावहु मंगलाचार,
हम घरि आए हो राजा रामं भरतार।।
तन रत करि मैं मन रत करिहूं, पंचतत्त बराती।
रॉमदेव मोरैं पौहुनैं आये मैं जोबन मैं माती।।
सरीर सरोवर वेदी करिहूँ, ब्रह्म वेद अचार।
रॉमदेव सँगि भाँवरी लेहूँ, धनिं धनिं भाग हमार।।
सुर तेतीसूँ कौतिग आये, मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हंम ब्याहि चले हैं, पुरुष एक अविनासी।।"[1]

यहाँ भौतिक स्तर पर कबीर का गृहस्थ जीवन के प्रति समर्थन भी है, तो आध्यात्मिक स्तर पर रहस्यभावना भी है। कबीर राम को राजा संबोधन करते हैं और उन्हें अपने पति के रूप में मानते हैं। पति के मिलन के लिए एक साधारण स्त्री किस प्रकार अपना तन-मन समर्पण करने के लिए तैयार हो जाती है, उसी प्रकार जीवात्मा भी परमात्मा से मिलने के लिए छटपटाती है। कबीर अपने आपको इसलिए अधिक भाग्यवान समझते हैं कि वे देवता राम के संग भाँवरें लेंगे और स्वयं भगवान के साथ होनेवाले

---

1. डॉ. श्यामसुंदर दास : "कबीर ग्रंथावली" पद भाग, पृ. 69
पद-1

• अपने विवाह को देखकर तैंतीस करोड़ देवता तथा अठासी हज़ार मुनि आश्चर्यचकित होकर देखते रह जायेंगे। इसका रहस्यवादी रूप इसलिए है कि कबीर भौतिक रूप में एक पुरुष है, परंतु अलौकिक स्तर पर अपने आपको स्त्री के रूप में चित्रण कर लेते हैं और स्त्री रूपी जीवात्मा का पुरुष रूपी परमात्मा से ब्याह जाना अर्थात् भगवान का भक्त पर कृपा दृष्टि रखना ही इसका आध्यात्मिक रूप है।

अवतारवाद में इस प्रकार सामाजिक एवं वैयक्तिक संबंधों की स्थापना को डॉ॰ लल्लन राय और भी स्पष्टता के साथ इस प्रकार कहते हैं, "जहाँ तक गहन लगाव और व्यक्तिगत संबंध-स्थापन के लिए वैष्णव अवतारवाद की कल्पना की अनिवार्यता का प्रश्न है, निर्गुणोपासक सन्तों ने इसके बिना भी निराकार ब्रह्म के साथ प्रेमी-प्रेमिका, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, स्वामी-सेवक सभी प्रकार के अत्यंत रागात्मक संबंध स्थापित किये हैं। इन सन्तों ने, चाहे वे सूफी ही क्यों न हो, शास्त्र को ऊँगली पकड़कर नहीं, उससे पीछा छुड़ाकर और अधिकांशतः उसके विरोध में भक्ति के मार्ग पर अग्रसर हुए हैं। इन सभी में हमें हिन्दू और इस्लाम धर्मों की सांप्रदायिक और शास्त्रीय

कट्टरता का सर्वत्र विरोध दिखाई देता है।"[1]

अर्थात् लेखक के कहने का आशय है कि निर्गुण सन्तों को भगवान से प्रेम-संबंध एवं पारिवारिक संबंध स्थापित करने के लिए किसी साकार अवतार की आवश्यकता नहीं थी।

हाँ, साकार रूप की आवश्यकता इन्हें अवश्य नहीं थी, परंतु उसके नाम की आवश्यकता थी। उससे प्रेम या उसकी उपासना करने के लिए सामाजिक संबंधों एवं रिश्तों का यथारूप में उन्होंने प्रयोग भी किया है।

सन्त दादूदयाल का एक पद है, जिसमें वे अपने भगवान "राम" (निर्गुण राम) को अपने घर में पाते हैं। उनके लिए वे मोतियों की माला स्वयं पिरोकर उन्हें पहनाना चाहते हैं --

"आज हमारे रामजी साध घरि आए।
मंगलचार चहुँ दिसि भए, आनंद बधाए।।
चौक पुराऊ मोतिया, घसि चंदन लाऊँ।
पंच पदारथ पोइ करि, यहु माल चढ़ाऊ।।

---

1. डॉ. लल्लन राय : "भक्ति-आंदोलन की क्रांतिकारिता बनाम् जनवादी चिंताधारा की विरासत", "पहल", पृ. 163

तनमन धन करों वारणों, परदक्षिण दीजे।
सीस हमारा जीव ले, नौछावरि कीजे ।।"[1]

इस प्रकार दादू का अपने भगवान के गले में माला डालने और उनके दर्शन की चाह रखने की बात तो, किसी सगुण भक्त की सगुण ब्रह्म की चाहत से कम नहीं है।

सूफी दर्शन में स्त्री को परमात्मा के रूप में चित्रित किया जाता है। इसीलिए सूफ़ी संत जायसी अपने "पद्मावत" की नायिका पद्मावती को अत्यंत रूपसी के रूप में दिखाते हुए भी, उसे परमात्मा का प्रतीक बना देते हैं और चितौड़ के राजा रत्नसेन को एक जीवात्मा के रूप में बताते हैं। पद्मावती के रूप सौंदर्य का वर्णन सुनकर, उसे पाने की चाहत में अनेक कष्टों का उसे सामना करना पड़ता है।

यहाँ पर पद्मावती "पद्मावत" काव्य की काव्य-नायिका है, जो राजा गंधर्वसेन की पुत्री है और सिंहलद्वीप की राजकुमारी है। मानव जीवन की एक प्रेम कहानी पर देवत्व का आरोपण किया जाना मध्यकालीन विचारधारा का प्रभाव है।

---

1. "दादूदयाल": परशुराम चतुर्वेदी , पृ. 390

मध्ययुग में सामाजिक चेतना एवं सामाजिक आंदोलन "भक्ति" के माध्यम से प्रकट होते हैं, इसीलिए सभी प्रकार के भावों पर आध्यात्मिकता का रंग चढ़ते हुए दिखाई देता है।

भक्त कवियों का "भक्त" होना इसका प्रधान कारण है तो, दूसरी तरफ़ इन भक्त कवियों का साधारण मानव भी होना है, जो समाज के दुखों के प्रति अत्यंत संवेदनशील होते हैं।

अतः निर्गुण भक्त अपने ईश्वर की उपासना सामाजिक धरातल पर सामाजिक संबंधों के माध्यम से करते हैं। इस प्रकार अपने उपास्य देवों से संबंध स्थापित करने में निर्गुण एवं सगुण दोनों प्रकार के भक्त कवियों का आशय समाज में स्वस्थ पारिवारिक संबंधों की स्थापना करना है। इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर वे शास्त्रों की परवाह नहीं करते हैं। इन्होंने गृहस्थ जीवन का समर्थन किया है, ईश्वर-आराधना के लिए संन्यासी बनने की अनावश्यकता को भी बताया है।

इस प्रकार भगवान का निम्न जातियों के घर में दर्शन देने और उनके साथ रिश्ते-नाते स्थापित करने के मूल में यही चेतना काम कर रही थी कि निम्न जाति के लोग भी अन्य लोगों से

किसी भी विषय में कम नहीं है। उनका भी समाज में वही स्थान होना चाहिए, जो ऊँची जातियों का होता है।

इस प्रकार मध्यकाल में राम और कृष्ण के अवतार-रूपों का एक सामाजिक महत्व है, और वह महत्व तुलसी और सूर के विचारों में है जो उनके काव्य में सशक्त अभिव्यक्ति पाता है।

उपसंहार

भक्ति-आंदोलन की मार्क्सवादी आलोचना सन् 1950 से आरंभ होती है। उससे पहले भक्ति-आंदोलन की आलोचना अन्य भारतीय आलोचना पद्धतियों के अनुसार होती थी, जैसे रस, अलंकार, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि काव्य शास्त्रीय सिद्धांतों को दृष्टि में रखकर आलोचना की जाती थी। इसीलिए हम "मानस" में प्रतीक विधान", "कबीर की काव्य भाषा", "सूरदास का वाग्वैदग्ध्य अथवा वक्रोक्ति" एवं "भक्तिकाव्य में अलंकार विधान" -- इस प्रकार काव्य शास्त्रीय दृष्टि से किये जानेवाले अनेक प्रकार के विवेचन मिलते हैं। परन्तु क्या ये सारे विवेचन भक्ति-आंदोलन को एक समग्र रूप प्रस्तुत करने में सक्षम हैं ?

"भक्ति"का अर्थ है भगवान की आराधना। इसीलिए "भक्ति" की शुरूआत मनुष्य द्वारा भगवान के प्रति श्रद्धा और विश्वास के व्यक्तीकरण में होती है। मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य में भी पहले पहल भक्ति भगवान की आराधना के रूप में ही आरंभ हुई थी। कबीर, रैदास, दादू और नानक आदि एकेश्वरवादी सन्त भी ईश्वर के एक अव्यक्त अस्तित्व के प्रति असीम श्रद्धा एवं प्रेम प्रकट करते हैं। सूरदास के विनय के पद, तुलसी एवं मीरा के अपने

आराध्य देवों के गुणगान में भगवदनुग्रह के लिए उनकी अकुलाहट दर्शनीय है।

यह रहा भक्ति-साहित्य का एक पक्ष। इसका दूसरा पक्ष भी है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है और जिसकी व्याख्या मार्क्सवादी इतिहासकार और हिन्दी के मार्क्सवादी विचारक करते हैं।

सबसे पहले इन विद्वानों ने भक्ति-आंदोलन के उद्भव के भौतिक कारणों की खोज की है। उनका यह विश्वास था कि भक्ति जैसे एक आध्यात्मिक तत्व को लेकर मध्ययुग में इतना विराट आंदोलन चल पड़ने के मूल में सिर्फ आध्यात्मिक विचारों का प्रसार ही नहीं बल्कि कोई इससे बड़ा "स्वार्थ" ज़रूर काम करता है। इसी मूलभूत कारण अथवा उद्देश्य का पता लगाना मार्क्सवादी विचारकों का लक्ष्य रहा। इसी आशय-प्राप्ति के लिए उन्होंने भौतिकवादी दर्शन का सहारा लिया।

इसके अलावा कुछ अन्य प्रकार की आलोचनाओं को भी हम देखते हैं, जो "भक्ति-आंदोलन" की परंपरा को वैदिक काल से बताते हुए, उसका ताल्लुक उपनिषदों, स्मृतियों, महाकाव्यों, पुराणों से जोड़कर अंततः उसे मध्ययुगीन काव्य रचना से मिलाते

हैं। परन्तु इस प्रकार के अध्ययन "भक्ति" एवं भक्ति-आंदोलन को एक महज़ आध्यात्मिक-दार्शनिक दृष्टिकोण ही प्रदान करते हैं, बल्कि इसके भौतिक पक्ष को, सामाजिक आवश्यकता को दिखाने में अक्षम है तथा इसके उद्देश्य को मुक्ति प्राप्त करने तक ही सीमित कर देते हैं।

मध्ययुग में काव्य के लिए जन-भाषा एवं हिन्दी-बोलियों का प्रयोग किया जाने लगा, जो अपभ्रंश एवं अवधी, ब्रज, मैथिली भाषाओं का रहा। युगीन परिस्थितियों के अनुरूप काव्य की विषय वस्तु भी बदलती गयीं और समय की माँग काव्य में व्यावहारिक भाषा के प्रयोग की ओर थी। उसी प्रकार काव्य के मूल्य को आँकने की अवधारणा भी बदलती गई। काव्य में "रस" की परिभाषा बदल गई, सौंदर्य के नये प्रतिमान स्थापित किये जाने लगे, पूरे काव्य का मूल्यांकन करनेवाला वह काव्य-शास्त्रीय पद्वति घिसी-पिटी रूढ़िवादी पद्वति मानी जाने लगी। आधुनिक युग में आकर काव्य के नये मूल्य बनाये गये, नये लय सृजित किये गये एवं नये छंद स्थापित किये गये। काव्य में स्थान पानेवाले इन्हीं क्राँतिकारी परिवर्तनों में "मार्क्सवादी समीक्षा" का स्थान आज सर्वोपरि है।

ऐसा नहीं है कि काव्य समीक्षात्मक वे पुरानी पद्वतियाँ आज बिलकुल नाकाम हो, बल्कि हम आज भी उन पद्वतियों का प्रयोग

कर सकते हैं, मगर थोड़ी-सी तबदीली के साथ।

काव्य को कभी ऐतिहासिक दृष्टि से आँका जाता था तो कभी आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाता था। कभी रहस्यवादी दृष्टि से परखा गया तो कभी समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण उसे आपादित किया गया। आज मार्क्सवादी आलोचना एवं मार्क्सवादी सौंदर्य शास्त्र ने काव्य के लिए नये सौंदर्य-मान खड़े कर दिये और समीक्षा में नई चेतना उत्पन्न कर दिया।

मार्क्सवादी दर्शन भौतिकवादी दर्शन है, इसका ज़िक्र हम पहले भी कर चुके हैं। यह दर्शन "विचार" को नहीं, बल्कि "पदार्थ" को प्रथम मानता है। उसी प्रकार, यह दर्शन प्रत्येक विचारधारा अथवा आंदोलन के मूल में आर्थिक परिस्थितियों को महत्व देता है। इसीलिए भक्ति-आंदोलन के उद्भव में भौतिक कारणों को हम समकालीन आर्थिक विधान एवं आर्थिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयत्न करते हैं।

मार्क्सवादी दृष्टि इतिहास-दृष्टि अवश्य देता है, बशर्ते कि वह निरंतर गतिमान हो। मार्क्सवाद "आध्यात्मिक सृजन" के अस्तित्व को भी मानता है, परन्तु उसकी भौतिकवादी सत्यता के आधार पर, और मार्क्सवाद समाजशास्त्रीय दृष्टि को भी नहीं

नकारता है बल्कि उसे बदलती हुई सामाजिकार्थिक परिस्थितियों एवं सामाजिक द्वन्द्वों के परिप्रेक्ष्य में देखता है।

इस प्रकार मार्क्सवाद किसी भी विचारधारा का उसके ऐतिहासिक, सामाजिक, आर्थिक पहलुओं के आधार पर मूल्यांकन करता है।

एक साधारण काव्य को, मतलब यहाँ सामाजिक रचना से है, को, मार्क्सवादी दृष्टिकोण से ग्रहण करना आधुनिक युग में एक आम बात हो गई। परन्तु जब भक्ति-आंदोलन के संदर्भ में इसका प्रयोग देखते हैं, तो यहाँ एक ख़ास परेशानी का सामना करना पड़ता है; क्योंकि आदिकालीन काव्य का मार्क्स-वादी मूल्यांकन करने बैठते हैं, तो वहाँ हम काव्य को सिर्फ एक "साहित्यिक रचना" के रूप में देखते हैं, जो "कवि" द्वारा रचित है और जिसमें "धर्म", "ईश्वर", "भक्ति", "मुक्ति" आदि गहरी आध्यात्मिक भावनाएँ नहीं होती हैं। परन्तु जब बात भक्ति संबंधी काव्य की आती है, तो उसे महज़ काव्य के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता, उससे भक्ति-भावना जुडी हुई है, और वे कवि "भक्त" विशेषण से युक्त "भक्त कवि" माने जाते हैं। विद्वानों में यह भी विवाद चलता आ रहा है

कि कबीर, तुलसी, सूरदास आदि संत लोग भक्त पहले थे या कवि पहले ! फिर, "भक्ति" एक आध्यात्मिक तत्व है जो ईश्वर से जुडा हुआ है, जबकि मार्क्सवाद एक निरा भौतिकवादी दर्शन है जो ईश्वर को नहीं मानता। यहाँ पर यह सन्देह उत्पन्न होता है कि एक आध्यात्मिक माने जानेवाले "भक्ति" भावना का मूल्यांकन एक नास्तिक दर्शन से किया जाना कहाँ तक उचित हो सकता है ? तो इन सारी उलझनों को मार्क्सवाद सिर्फ अपने एक "द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धांत" के सहारे सुलझा देता है।

इस अध्ययन में हम एक बात और देखते हैं कि किसी विचार-धारा के पनपने में सिर्फ आर्थिक परिस्थितियाँ ही नहीं, समूचा युग एवं समाज का प्रभाव भी रहता है और समाज तो अनेक द्वन्द्वों में घिरा रहता है। इन सारी युगीन परिस्थितियों का प्रभाव अपने द्वन्द्वों समेत समकालीन विचारधाराओं जैसे, साहित्य, कला, कानून, राजनीति आदि पर पड़ता है। अतः मध्ययुगीन भक्ति काव्य में हम इन द्वन्द्वों को देखते हैं जो भक्तकवियों के विचारों में व्यक्त होते हैं। इन्हीं द्वन्द्वों को डॉ· रमेशकुंतल मेघ कवियों के अन्तर्विरोध कहते हैं।

इन अंतर्विरोधों की पहचान हमें मार्क्सवाद-सिद्धांत "द्वन्द्वात्मक

भौतिकवाद" से हो जाती है। यह द्वन्द्ववादी नियम संसार को समझने की दिशा में एक स्पष्ट, सरल, सुव्यवस्थित आधार खड़ा कर देता है, जो ठोस भौतिक आधार है और जिसका मानव से मानव के संबंधों एवं मानव से प्रकृति के संबंधों से गहरी संबद्धता है।

मार्क्सवाद "धर्म" एवं "ईश्वर" को मनुष्य की कल्पना की उपज मानता है। मध्यकाल में धार्मिक कर्मकाण्ड, बाह्याचारों के प्रसार-प्रचार द्वारा ब्राह्मण पुरोहित वर्ग निम्न वर्गों का शोषण करता है। इस शोषण को एक तरह से आध्यात्मिक रूप में किये जानेवाला शोषण मान सकते हैं। क्योंकि पुरोहित वर्ग अपने अधिकारों की पूर्ति के लिए निम्न वर्गों को पुनर्जन्म एवं नर्क आदि का भय दिखाकर, वर्णाश्रम धर्म का पालन करने के लिए मजबूर करता है। इससे निम्न वर्ग एवं वर्ण उच्च वर्गों एवं वर्णों के लिए हमेशा सुविधाएँ जुटानेवाला और उनका दासत्व करनेवाला ही बना रहता है। इस प्रकार उच्च वर्ण की गुलामी करने के लिए वे निम्न वर्ण मानसिक तौर पर पूरी तरह से तैयार रहते हैं। इस प्रकार उच्च वर्ण अपनी विचारधारा से निम्न वर्गों के मन को अपनी ओर मोड लेते हैं। इस प्रकार एक अजीब सी मादकता में ये पीड़ित वर्ग बह जाते हैं, इसीलिए मार्क्स ने

धर्म को पीड़ित, दुखित जन के लिए "अफीम" कहा है। परंतु मध्यकालीन "भक्ति" इस अफीम की मादकता को नष्ट करती है। "भक्ति" का नारा है कि यहाँ पर कोई बड़ा या छोटा नहीं है। और एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से जाति, वर्ण के नाम पर तो कभी भी कम या छोटा नहीं हो सकता। भक्त की जाति ही सबसे ऊँची जाति है और भक्त ही सबसे बड़ा है। यह बात इस हद तक भी बढ़ जाती है कि भगवान से भी भक्त बड़ा है।

इस प्रकार भक्ति एक तरफ उच्च वर्णों के वर्णगत शोषण से निम्नवर्गों को मुक्ति दिलाती है, तो दूसरी ओर वह शोषण-युक्त मध्यकालीन सामन्ती समाज के अत्याचारों से पीड़ित जन-साधारण के लिए एक आशा की किरण बनकर भी उपस्थित होती है। इस तरह मार्क्स के कहे अनुसार ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने की भावना दोनों तरफ से दुखित एवं पीड़ित हृदयों के लिए अफीम अथवा दवा ही साबित होती है।

मार्क्सवाद का विरोधी समागम का नियम, समाज के द्वन्द्वों को और उन द्वन्द्वों में एकता को बताता है। प्रत्येक वस्तु में

दो प्रकार के विरोधी तत्वों के संघर्ष से दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है और इस प्रकार प्रकृति एवं समाज गतिशील होकर प्रगति की दिशा में चलते हैं। साहित्य में यही द्वन्द्व अन्तर्विरोधों के रूप में प्रकट होते हैं। "मध्यकालीन काव्य में हमें तुलसी-काव्य में अधिक द्वन्द्व-भाव मिलते हैं, जो तुलसीदास के अंतर्विरोध हैं। समाज में जब भिन्न प्रकार के विचारों में टकराव होते हैं और किसी एक विचार को दूसरे विचार से उन्नत अथवा निम्न तय करने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है, ऐसे समयों पर इन विचारों का द्वन्द्व कवि के काव्य में व्यक्त हो जाता है। मध्य-कालीन सामाजिक द्वन्द्वों को तो हमने बता दिया है, यही द्वन्द्व तुलसीदास के काव्य में मिलते हैं। तुलसी वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक होकर ब्राह्मणों को दैवी अधिकार देते हैं, तो दूसरी ओर समस्त जगत "राममय" बताकर समस्त जीव राशि में "राम" को देखते हैं। एक तरफ़ सामंती विलासी राजमहलों का वर्णन भी करते हैं तो दूसरी तरफ़ इस राजभोग को त्याग कर वन की ओर प्रस्थान करनेवाले राम के महान व्यक्तित्व को भी दिखाते हैं।

तुलसीदास से भी पहले हम "गीता" के रचनाकार के अंतर्विरोधों को देखते हैं, जिनका परिचय हमें डी·डी· कोसांबी कराते हैं

और उनका कहना यह है कि गीता असंगतियों से भरपूर रचना है। "गीता" के सृजनकार के मन में भी अनेक प्रकार के द्वन्द्व चल रहे होंगे जो कृष्ण-अर्जुन के माध्यम से पेश किये गये हैं। परंतु ये ही असंगतियाँ "गीता" जैसे एक बृहत्तर उपदेशात्मक काव्य ग्रंथ को जन्म देती हैं जो हिन्दु धर्म के लिए सबसे पवित्र धार्मिक ग्रंथ का दर्जा प्राप्त कर बैठा है। और उस पर अनेक विद्वान अपनी मेधाशक्ति के अनुसार अपने-अपने मूल्यांकन एवं व्याख्याएँ जगत के समक्ष प्रस्तुत करते आये हैं।

इन्हीं मूलग्रंथों से भक्ति भावना विकसित होकर मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन के रूप में अवतरित होती है। इसकी लंबी यात्रा में इस आंदोलन ने अनेक परिवर्तनों को स्थान दिया। ऊँची जातियों, वर्गों, एवं वर्णों के स्वार्थों के लिए लिखित तथा उनके द्वारा पोषित इन "गीता" एवं "मनुस्मृति" आदि ग्रंथों के स्वार्थपूरित रूप से जन-साधारण को मुक्ति दिलाना कोई आसान बात नहीं थी।

इन सारे ऊँच-नीच के भेद-भाव एवं समाज में गहराई तक उनकी व्याप्ति देखकर ही, कबीर, नानक, तुलसी जैसे महात्माओं के मन में एक गहरी टीस उत्पन्न हुई होगी, तभी उन सन्तों ने

उसके विरोध का बेड़ा उठाया था, परंपरा की परवाह भी उन्होंने नहीं की। इसीलिए उन्हें बड़ी वेदना से, न चाहकर भी, बार-बार "नीच", "नीच जाति", "नीच जन्म" आदि विशेषणों को इस्तेमाल करना पड़ा।

नानक का यह पद देखें --

"नीचा अंदरि नीच जाति नीची हू अति नीचु।।
नानकु तिन कै संगि साथि बडिआ सिउ किआ रीस।।
जिथै नीच समालीअनि तिथै नदरि तेरी बखसीस।।"

(गुरुग्रंथ साहब, खण्ड-1, पृ. 114)

नानक की यह प्रार्थना देखिए, वे कहते हैं कि नीच मानी जानेवाली जाति में भी नीचाति नीच के साथ उनकी दोस्ती बनी रहे। नीचों को जहाँ पर कृपा दृष्टि से देखी जाती है, वहीं पर ईश्वर की कृपा दृष्टि होती है। कहने का आशय यही है कि कम-से-कम ईश्वर की कृपादृष्टि पाने की लालच में ही सही, ऊँचे लोग निम्नस्तर के लोगों का सम्मान करना सीखें। और नानक इसमें निम्न लोगों में आत्म विश्वास जगाने की भावना भी प्रकट करते हैं।

नानक की यह वेदना सिर्फ उनकी ही वेदना नहीं थी, बल्कि आलोच्यकाल में उन्हीं के समान संवेदनशील सभी भक्त कवियों की

पुकार भी यही थी कि निम्न जाति का समाज में सम्मान हों। उन्हें मनुष्यों के रूप में देखा जाय न कि पशुओं के रूप में।

मध्ययुगीन आर्थिक विधान शोषणयुक्त आर्थिक विधान था। सामाजिक स्थिति जाति व्यवस्था पर निर्भर थी। धर्म पर पुरोहित वर्ग का एकाधिपत्य था। इन हालातों में समाज, राज्य के कराधान के कारण शोषक-शोषित वर्गों में तथा जाति व्यवस्था के कारण ऊँची-नीची जातियों में और आर्थिक स्थिति के कारण निम्न एवं उच्च वर्गों में बँट गया था।

इन परिस्थितियों में भक्ति-आंदोलन की सामाजिक संवेदना और उसके मानवतावादी रूप ने जन-साधारण में अपनी दीन-हीन स्थिति के मूल कारण के प्रति चेतना जगाई। भक्ति-आंदोलन का यही रूप जन-साधारण को अधिक आकर्षित करने में भी कामयाब रहा।

इस विचार का निष्कर्ष यही निकलता है कि भक्ति-आंदोलन की ओर अधिक संख्या में शोषित, दलित एवं पीड़ित वर्गों का झुकाव उसके आध्यात्मिक पक्ष को देखकर नहीं था, बल्कि उसके भौतिक पक्ष के प्रति उनका आकर्षण ही था। अर्थात् भक्ति-आंदोलन "भक्ति" की आड़ में जन-साधारण के भौतिक स्वार्थों की पूर्ति

के रूप में सामने आता है। इसीलिए इसे जन-आंदोलन कहा जाता है।

इसके अलावा विद्वानों का एक और मत यह भी है कि मध्यकालीन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों में विशेष परिवर्तन हुए थे। कृषि-क्षेत्र में नई नई तकनीकों के इस्तेमाल के कारण उत्पादन में बढ़ोत्तरी हुई थी और कपड़ा बुनने में भी चरखा, चरखी, रहट आदि का इस्तेमाल होने लगा था और विदेशी व्यापार भी बढ़ने लगा था। इन परिवर्तनों के कारण ही कारीगरों, व्यापारियों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ था। अपनी आर्थिक स्थिति में सुधार पाकर वे निम्न वर्ग समाज में अन्य उच्च वर्गों के समान अपना सामाजिक स्तर भी बढ़ाना चाहते थे। इस कार्य के लिए उन्हें भक्ति-आंदोलन पूरा अवसर प्रदान करता है क्योंकि "भक्ति" में कोई उच्च और निम्न का भेद नहीं है, सिर्फ भक्त होता है जो ईश्वर से प्रेम करनेवाला और बदले में ईश्वर से प्रेम एवं कृपा प्राप्त करनेवाला। इसी कारण निम्न वर्ग भक्ति-आंदोलन में शामिल हो जाते हैं ताकि उनको समाज में मनुष्यों के रूप में स्थान मिलें। और आदर मिलें।

इस प्रकार देखा जाय तो भक्ति-आंदोलन का जन-आंदोलन होने के मूल में भारत की अपनी ज़मीन की युगीन परिस्थितियाँ और इन परिस्थितियों से जूझती टकराती हुई जन-साधारण का संघर्ष निहित है।

भक्ति-आंदोलन में निर्गुण-सगुण भक्ति-आंदोलन को लेकर विवाद भी चल पड़े थे कि सगुण भक्ति-आंदोलन, निर्गुण भक्ति-आंदोलन की अपेक्षा कम क्रांतिकारी है। परन्तु हमारी मान्यता यह है कि भक्ति-आंदोलन के जन-आंदोलन रूप लेने में दोनों प्रकार की -- निर्गुण और सगुण -- धाराओं का समान योगदान रहा है। क्योंकि दोनों प्रकार के भक्ति-भावों का मूल उद्देश्य लोकमंगल ही था और दोनों का संदेश मानवतावाद ही है।

परिवर्तनशील जगत एवं जनता की चित्तवृत्तियों का सबूत ही निर्गुण से सगुण की ओर की यात्रा है। अर्थात्, अगोचर ब्रह्म से ज्ञात एवं गोचर ब्रह्म की ओर मुड़ना। एक अव्यक्त सत्ता को समझने में मनुष्यों की कठिनाई का अन्दाज़ा लगाकर ही सगुणवादी भक्त अपना सगुणमत जो कि भगवान के रूप पक्ष पर बल देता है, लेकर पदार्पण करते हैं, जिसका प्रसार जनता में

अत्यंत तीव्रगति से व्याप्त हो गया। क्योंकि भक्तों के लिए भगवान का एक ठोस भौतिक रूप दिखाई देता है, जिसकी आराधना करना उनके लिए बहुत आसान लगने लगा।

सगुण भक्ति का आधार अवतारवाद है जो विष्णु के अवतारों राम और कृष्ण की उपासना पर आधारित हैं। राम और कृष्ण के परम भक्त तुलसीदास और सूरदास दोनों ने अपने-अपने आराध्य देवों के चरित्रों को मध्यकालीन परिवेश से जोड़कर ही देखा है। पुराण कथाओं के चित्रण में भी मध्यकालीन समाज को प्रतिबिंबित करने के कारण ही डॉ॰ मेघ इन कवियों को वास्तविक इतिहासकार बनने योग्य मानते हैं और इसे वे मिथक का मध्यकालीनीकरण भी कहते हैं। डॉ॰ प्रेमशंकर और डॉ॰ मेघ दोनों तुलसी के राम को एक मध्यकालीन चरितनायक की संज्ञा देते हैं।

निर्गुण और सगुण दोनों भक्त कवि ईश्वर को समाजोद्धारक के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं और अवतारवाद को अवधारणा को भी युगीन परिस्थितियों के अनुरूप ही ढाल लिया गया, वह युग की आवश्यकता बन कर ही सामने आता है।

भक्ति-आंदोलन की भारत के लिए सबसे बड़ी भौतिक उपलब्धि यह है कि इसने समस्त भारतीयों को एक सूत्र में बाँधा है। इस कार्य के लिए "भक्ति" को माध्यम के रूप में इस्तेमाल किया गया।

इस आंदोलन ने सामान्य जन को और उनकी भाषा को अत्यंत महत्व दिया है। इसीलिए प्रादेशिक भाषाओं के विकास में इनका योगदान विशेष उल्लेखनीय है।

यही भक्ति-आंदोलन था जो तत्कालीन समाज में अत्यंत निम्न एवं अस्पृश्य माने जानेवाले वर्गों को यह एहसास दिलाता था कि वे भी मनुष्य ही थे; तद्वारा उनमें आत्म गौरव की भावना जगाता था।

शोषणयुक्त कर-भार से ग्रस्त किसानों से सामन्तों के प्रति विद्रोह करने को प्रेरणा भी इसी भक्ति-आंदोलन से मिलती है।

यही भक्ति-आंदोलन स्वार्थी ब्राह्मणों को दैवी अधिकारों से गिरा भी देता है।

इस प्रकार मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन द्वारा समकालीन समाज के तात्कालिक प्रयोजनों की पूर्ति होती है। परन्तु उत्तर मध्यकाल

में सामंती समाज की भोगविलासी प्रवृत्ति के कारण श्रृंगार-भाव भक्ति भाव पर हावी हो जाता है। कवि अपने आश्रयदाता राजाओं की स्तुति द्वारा अपने भौतिक स्वार्थों की पूर्ति करने में लगे थे। लक्षण ग्रंथों की रचनाओं द्वारा अपनी प्रतिभा को दिखाने की लालसा भी उनमें थी।

यही कारण है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास-क्रम में आधुनिक युग से पूर्व के साहित्य में जन-साधारण के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त करनेवाला काव्य भक्ति-काव्य ही है। मार्क्सवादी आलोचकों का इसे जन-आंदोलन मानना यहाँ बिलकुल सही एवं समीचीन साबित होता है।

x x x

सहायक ग्रंथसूची

आधार ग्रंथ

हिन्दी :

1. डॉ. गजानन माधव मुक्तिबोध :

पुस्तक : "नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध"

निबंध : मध्यकालीन भक्ति-आंदोलन का एक पहलू

प्रकाशन : विश्व भारती प्रकाशन, धनवटे चेम्बर्स, नागपुर

प्रथम सं : 1964

2. डॉ. रमेशकुंतल मेघ :

ग्रंथ : "तुलसी : आधुनिक वातायन से" (शोध प्रबंध)

प्रकाशन : भारतीय ज्ञानपीठ, बी/45-47,
कनाट प्लेस, नई दिल्ली- 110001

संस्करण : 1973

3. डॉ. रमेशकुंतल मेघ :

निबंध : "तुलसी की "कवितावली" : सामाजिक इतिहास
लेखन का एक प्रामाणिक काव्य दस्तावेज़"

पत्रिका : आलोचना, अंक 30, जुलाई-सितंबर 2, 1974

संपादक : डॉ. नामवरसिंह

4. डॉ. रामविलास शर्मा :

ग्रंथ : "परंपरा का मूल्यांकन"

निबंध : सन्त-साहित्य के अध्ययन की समस्याएँ
तुलसी की भक्ति

तुलसी-साहित्य के सामंत विरोधी मूल्य
भक्ति-आंदोलन और तुलसीदास
प्रकाशन : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002
संस्करण : 1981

5. डॉ. रामविलास शर्मा :
ग्रंथ : हिन्दी जाति का साहित्य
प्रकाशन : राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली
संस्करण : 1886

6. डॉ. राँगेयराघव :
ग्रंथ : राँगेयराघव ग्रंथावली - 10
संपादिका : डा. सुलोचना राँगेयराघव
निबंध : "मध्यकालीन हिन्दी साहित्य और भारतीय
भक्ति-आंदोलन"
तुलसीदास : एक दृष्टिकोण
प्रकाशन : राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
संस्करण : 1983

7. डॉ. नामवरसिंह :
ग्रंथ : "दूसरी परंपरा की खोज"
प्रकाशन : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग
नई दिल्ली - 110002
संस्करण : 1982

8. डॉ. शिवकुमार मिश्र :

ग्रंथ : "भक्तिकाव्य और लोकजीवन"

प्रकाशन : अरुणोदय प्रकाशन, 1/2165, पूर्वी रामनगर, गली नं. 16, मंडौली रोड, शाहदरा, दिल्ली - 110032

संस्करण : 1991

9. डॉ. मैनेजर पाण्डेय :

ग्रंथ : "भक्ति-आंदोलन और सूरदास का काव्य"

प्रकाशन : वाणी प्रकाशन, दरिया गंज, नई दिल्ली -110002

संस्करण : 1993

10. डॉ. विजेन्द्रनारायण सिंह :

निबंध : कबीर : ब्राह्मण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह

पत्रिका : "हिन्दुस्तानी" - भाग, 38, अंक 3-4

11. डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी :

निबंध : "वर्ण-व्यवस्था, नारी और भक्ति-आंदोलन"

पत्रिका : "आलोचना", अंक 47, अक्तूबर-दिसंबर, 1978

संपादक : डॉ. नामवरसिंह

12. डॉ. कृपाशंकर सिंह :

निबंध : "कबीर की विद्रोही मानसिकता की पृष्ठभूमि"

पत्रिका : "आलोचना," अंक 72, 1985 जनवरी, मार्च।

13. डॉ. सावित्रीचन्द्र "शोभा" :

निबंध : "मध्यकालीन साहित्य में असहमति और विरोध"

पत्रिका : "आलोचना" अंक 48, जनवरी/मार्च, 1979

14· डॉ· कुंवरपाल सिंह :

निबंध : "भक्तिकाल का मार्क्सवादी मूल्यांकन"

पत्रिका : "पहल" §नवजागरण और इतिहासचेतना§

संपादक : ज्ञानरंजन

15· डॉ· लल्लनराय :

निबंध : "भक्ति-आंदोलन की क्राँतिकारिता बनाम जनवादी चिंताधारा की विरासत"

पत्रिका : पहल §नवजागरण और इतिहासचेतना§

इतिहासकारों के ग्रंथ व लेख :

1· दामोदर धर्मदास कोसाम्बी :

ग्रंथ : "मिथक और यथार्थ"

अनुवाद : नंदकिशोर "नवल"

प्रकाशन : दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड सोहन प्रिंटिंग सर्विस, शाहदरा, दिल्ली-110032

प्रथम हिंदी संस्करण 1976

2· डॉ· इरफान हबीब :

निबंध : "हिस्टारिकल बैकग्राउंड आफ दि मोनोथीइस्टिक मूवमेंट इन दि फिफ्टींथ सैंचरी (THIS PAPER WAS READ IN THE SEMINAR ON IDEAS, MEDIEVAL INDIA, 15-18, NOVEMBER, 1965 AT UNIVERSITY OF DELHI, DELHI).

निबंध : "एविडेन्स फर सिक्स्टींथ सैंचरी अग्रेरियन कंडिशन्स इन दि गुरु ग्रंथ साहिब (PAPER SUBMITTED TO THE INDIAN NATIONAL CONGRESS, 25 th SESSION, POONA, 1963.

3· डॉ· रशीद :

ग्रंथ : "सोसाइटी अंड कल्चर इन मीडियवल इंडिया"

निबंध : भक्ति याज ए सोषल फोर्स

संस्करण : 1969 कलकत्त, फरीना के· एल· मुखोपाध्याय

4· डॉ· रामशरण शर्मा :

ग्रंथ : "भारतीय सामंतवाद"

प्रकाशन : राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली-6

संस्करण : 1973

5· डॉ· रामशरण शर्मा :

ग्रंथ : "पूर्वमध्यकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन"

अनुवाद : सुशील झा

प्रकाशन : सुंदरलाल जैन मोतीलाल बनारसीदास, बंगलो रोड,
जवाहर नगर, दिल्ली - 7

संस्करण : 1975 दिल्ली

6· डॉ· हरबंस मुखिया :

ग्रंथ : "हिस्टरी अंड सोसाइटी"

संपादक : देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय

प्रकाशन : के· पी· बक्शी एण्ड कंपनी, कलकत्ता

संस्करण : 1978

7· डॉ· सतीश चन्द्र :

निबंध : "उत्तर-भारत में भक्ति-आंदोलन के उदय की
ऐतिहासिक पृष्ठभूमि"

पत्रिका : "आलोचना," जनवरी-मार्च 1986

8· डॉ· हीरेनगोहेन :

निबंध : "दि लेबोरिंथ आफ भक्ति आन सम क्वश्चन्स आफ मीडियवल इंडियन हिस्टरी"

पत्रिका : "एकनामिक अंड पोलिटिकल वीक्ली" नवंबर 14, 1987

9· डॉ· एम· जी· एस· नारायणन और वेलुतट केशवन :

ग्रंथ : "फ्यूडल सोशल फार्मेशन इन एर्ली इंडिया

निबंध : भक्ति मूवमेंट इन साउथ इंडिया

संपादक : डी· एन· झा

प्रकाशन : चाणक्य पब्लिकेशंस, दिल्ली

संस्करण : 1987

संदर्भ ग्रंथ :-

1· आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : "हिन्दी साहित्य का इतिहास" नागरी प्रचारिणी सभी, काशी 18 वाँ संस्करण 1978

2· डॉ· हजारीप्रसाद द्विवेदी : "हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली-4 (प्रमुख सन्त कवि) राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 8, नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली-2 प्रथम संस्करण : अगस्त, 1981

3· डॉ· प्रेम शंकर : "भक्तिकाव्य की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना", दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, ग्रंथ भारती, दिल्ली-32
प्रथम संस्करण - 1979

4· राहुल सांस्कृत्यायन : "वैज्ञानिक भौतिकवाद"
लोकभारती प्रकाशन, 15-ए, एम· जी·मार्ग, इलाहाबाद -1
सातवाँ संस्करण 1985

5· धर्मवीर भारती : "सिद्ध साहित्य"
विद्या प्रकाशन मंदिर, 1681, दरियागंज, नई दिल्ली - 2
प्रथम संस्करण : 1988

6· डा· शंभुनाथ : 1. "तीसरा यथार्थ"
प्रभा प्रकाशन, 72, पूराबल्दी, कीटगंज, इलाहाबाद - 211003
2. "साहित्य और जन संघर्ष,
संभावना प्रकाशन, हापुड़ - 245101
प्रथम संस्करण : 1980

7· डॉ· कपिलदेव पाण्डेय : "मध्यकालीन काव्य में अवतारवाद"
चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी -1
प्रथम संस्करण : 1963

8· डॉ· मलिक मोहम्मद : "वैष्णव भक्ति-आंदोलन का अध्ययन"
राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली।
प्रथम संस्करण : 1971

9· डॉ· रतिभानुसिंह नाहर : "भक्ति-आंदोलन का अध्ययन"
किताब महल प्राइवेट लिमिटेड
रजिस्टर्ड आफिस : 56 ए, जीरो रोड,
इलाहाबाद।

10· डॉ आलमशाह ख़ान :"मीरा : लोकतात्त्विक अध्ययन"
विजेन्द्रकुमार संघी, संघी प्रकाशन,
सी-177, महावीर मार्ग, मालवीय नगर,
जयपुर।

11 · आचार्य रामचंद्र शुक्ल : "लोक जागरण और हिन्दी साहित्य"
संपादक : डॉ· रामविलास शर्मा
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली - 110002
प्र· सं· 1985

12· डॉ· जनेश्वर वर्मा : "हिंदी काव्य में मार्क्सवादी चेतना"
ग्रंथम, रामबाग, कानपुर -12
प्र· सं : 1974

13· डॉ· देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय :
: "लोकायत"
(प्राचीन भारतीय भौतिकवाद का अध्ययन)
अनुवादक बृज शर्मा, मैकमिलन इंडिया लि·
नई दिल्ली - 110028
प्रथम संस्करण : 1982

14· डॉ· विश्वंभरनाथ उपाध्याय :
: "भारतीय काव्यशास्त्र का अध्ययन"
(द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आलोक में)
मोहनलाल जैन, अनुपम प्रकाशन
चौड़ा रास्ता, जयपुर - 3
संस्करण : 1980

15· डॉ· चरणदास शर्मा : "तुलसीदास के काव्य में नैतिकमूल्य"
भारतीय ग्रंथ निकेतन,
133, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-6
प्र· स· : 1971

16· डॉ· रामकुमार वर्मा : "हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास"
(संवत् 750-1750)
रामनारायणलाल बेनीमाधव
2, कटरा, इलाहाबाद -2
छठवाँ संस्करण : 1971

17· डॉ· हजारीप्रसाद द्विवेदी : "हिन्दी साहित्य की भूमिका"
राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड,
नई दिल्ली - 110002
सं· 1979

18· कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स : "संकलित रचनाएँ" तीन खण्डों में
प्रगति प्रकाशन : 1976

19· व्लादिमिर इल्यानेच उल्यनोव लेनिन : "संकलित रचनाएँ" (दस खण्डों में)
खण्ड 2 (1902 अप्रैल 1905)
प्रगति प्रकाशन, मास्को - 1981
मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली।
प्रथम हिंदी संस्करण : 1982

20· डॉ· राँगेयराघव : राँगेयराघव ग्रंथावली -10
§निबंध : "धर्म की मानवतावादी पंरपरा
और विकास§ सं· डॉ·सुलोचना राँगेयराघव
राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली
प्रथम सं· 1983

21· डॉ· वीरेन्द्र मोहन : "भक्तिकाव्य और मनवमूल्य"
प्रकाशन संस्थान, 4715/21, दयानंद मार्ग,
दरिया गंज, नई दिल्ली -110002
प्रथम सं· 1986

22· प्रो· राम : "बृहद सूरसागर"
प्रभात प्रकाशन, 205, चावड़ी बाज़ार,
दिल्ली -110006
संस्करण - 1975

23· डॉ· श्यामसुंदर दास : "कबीर ग्रंथावली"
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
पन्द्रहवाँ संस्करण : 1979

24· डॉ· परशुराम चतुर्वेदी : "दादूदयाल"
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
प्रथम सं· : 1966

25· आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : "तुलसी ग्रंथावली"§तीन खण्ड§
नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
संस्करण : 1973

26· पं· ज्वालाप्रसाद जी : "रामचरितमानस" - तुलसीदास
शिक्षा ग्रंथसागर, डीग गेट, मथुरा
21 वाँ सं· जनवरी सन् 1979 ई·

27· डॉ· भगवत्स्वरूप मिश्र : "कबीर ग्रंथावली"
विनोद पुस्तक मंदिर,
रांगेयराघव मार्ग, आगरा - 2
तृतीय सं· 1977

28· डॉ· पुष्पपाल सिंह : "कबीर ग्रंथावली"
अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-6
सप्तम सं· : 1983

29· डॉ· धीरेन्द्र वर्मा : "सूरसागर" सटीक
साहित्य भवन (प्रा·) लिमिटेड
इलाहाबाद - 211003
तृतीय सं· 1977

30· डॉ· नंददुलारे वाजपेयी : "सूरसागर"
काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

31· डॉ· हरदेव बाहरी
डॉ· राजेन्द्र कुमार : "सूरसागर" सटीक
लोकभारती प्रकाशन
15-ए, महात्मा गाँधी मार्ग,
इलाहाबाद -1, द्वितीय सं : 1978

32 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : "भ्रमरगीत-सार"
श्री गोपालदास पोरबाल
साहित्य-सेवा-सदन, वाराणसी
सं· 1973-74

33· डॉ· कृष्णदेव शर्मा : मीराबाई पदावली
रीगल बुक डिपो, नई सड़क, दिल्ली-6
प्र· सं· : 1972

34• गुरुग्रंथ साहब [तीन खण्ड] : अनुवादक : लक्ष्मण चेलाराम
दादा चेलाराम मेमोरियल ट्रस्ट
नई दिल्ली सं• 1988

35• श्रीमद्भगवद्गीता [यथारूप] : हिन्दी भाषांतर : राजीव गुप्ता
भक्तिसदन बुक ट्रस्ट,
न्यूयार्क-लास एंजल्स-लण्डन-बम्बई।
द्वितीय सं• 1980

36• डॉ राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी : "हमारे कवि और लेखक"
प्रकाशन केन्द्र, रेलवे क्रासिंग,
सीतापुर रोड, लखनऊ।

37• श्री परशुराम चतुर्वेदी : "संत साहित्य की भूमिका"
हिन्दी प्रचार सभा, हैदराबाद
नामपल्ली स्टेशन रोड, हैदराबाद
संस्करण: जुलाई 1960

38• आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : संत-साहित्य के प्रेरणा-स्रोत
राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली।
सं• : 1975

39• डॉ• मुक्तेश्वर तिवारी : मध्ययुगीन सूफी और संत साहित्य
सरस्वती प्रकाशन मंदिर,
69, नया बैरहना, इलाहाबाद - 3
सं• : 1980

40• यशपाल : मार्क्सवाद
विप्लव कार्यालय, 21 शिवाजी मार्ग,
लखनऊ।
सं• 1940

41. डॉ. योगेन्द्र सिंह : "सन्त रैदास"
अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड
2/36, अन्सारी रोड, दरियागंज,
दिल्ली - 6
सं. 1972

42. मीराबाई की प्रामाणिक पदावली : डॉ. भगवानदास तिवारी
साहित्य भवन (प्रा.) लिमिटेड
के. पी. कक्कड रोड, इलाहाबाद -3
सं. 1974

43. कवितावली (तुलसीदास) : संपादक : सुधाकर पाण्डेय
लोकभारती प्रकाशन,
इलाहाबाद -1
सं. 1973

44. विनय पत्रिका : डॉ. राजनाथ शर्मा
विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा
सं. 1973

45. विश्वनाथ त्रिपाठी "मीरा का काव्य" (प्राचीन कवि पुनर्मूल्यांकन-माला, संपादन: विद्यानिवास मिश्र)
दि मैकमिलन कंपनी इंडिया लिमिटेड,
शाहदरा, दिल्ली - 110032
सं. : 1979

46. डॉ. चरणदास शर्मा : "तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्य"
भारतीय ग्रंथ निकेतन,
133, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-6
सं. : 1971

47. डॉ. एम. जार्ज : "भक्ति-आंदोलन और साहित्य"
प्रगति प्रकाशन, बेतुल बिल्डिंग,
आगरा - 282003
सं. : 1978

अंग्रेजी

1. मार्क्स, एंगेल्स : "आन लिटरेचर अंड आर्ट"
प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को -1978

2. डॉ. इरफान हबीब : "अंग्रेरियन सिस्टम आफ मुगल इंडिया

3. डॉ. रशीद : "सोसाइटी अंड कल्चर इन मीडियवल इंडिया"
1206-1556 ए. डी. कलकत्ता
फिर्मा के. एल. मुखोपाध्याय - 1969

4. डॉ .पी. एन. ओझा : "यास्पेक्ट्स आफ मीडियवल इंडियन सोसाइटी
अंड कल्चर"
बी. आर. पब्लिशिंग कार्पोरेशन
461, विवेकानंद नगर, दिल्ली -52
प्रथम. सं. 1978

5. डॉ. जे. एस. ग्रीवल : "सोशल चेंज इन मीडियवल इंडिया"
जनरल प्रेसिडेंशियल अड्रस,
इंडियन हिस्टरी कॉंग्रेस, 45 सेशन, 1985

6. डॉ. सतीश चन्द्र : "पार्टीस अंड दि पोलिटिक्स एट दि मुगल कोर्ट"
पीपुल्स पब्लिशर्स, 1979, न्यू दिल्ली

7· डॉ· इरफान हबीब : "एस्सेस इन इंडियन हिस्टरी टूवर्ड्स ए मार्क्सिस्ट पर्सेप्शन" (फार्मर्स आफ क्लास स्ट्रगल इन मुग़ल इंडिया) पब्लिष्ड बाइ तुलिका, आर-27। ग्रेटर कैलाश, नई दिल्ली - 110048, इंडिया 1995

8· डॉ· केशवन वेलुतट :"दि टैंपुल बेस आफ दि भक्ति मूवमेंट इन साउथ इंडिया"

9· डॉ· आर· एन· नंदी :"सोशल स्ट्रस अंड रेलिजियन इन एनिशेंट इंडिया" (रिवैवल आफ मार्केट एकानमी अंड दि आरिजन आफ वीरशैव मूवमेंट) कलकत्ता के· पी· बक्शी अंड को 1986

10· डॉ· रिज़वी एस·ए·ए· :"वंडर दट वज इंडिया" (1200-1700) लंडन, सिडविक अंड जाक्सन

11· डॉ· के·एम· आशरफ :"लाइफ अंड कंडिशन्स आफ दि पीपुल आफ हिन्दुस्तान" न्यू दिल्ली मुंशीराम मनोहरलाल, 1970

कोश :

1· हिन्दी साहित्य कोश, भाग-1 : प्रधान संपादक : डॉ· धीरेन्द्र वर्मा ज्ञानमण्ड लिमिटेड, वाराणसी, द्वितीय सं· : 1963

2. हिन्दी शब्द सागर - पंचम भाग : मूल संपादक: डॉ. श्यामसुंदर दास
काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
सं. 1968

3. हिन्दू धर्म कोश : संपादक: डॉ. राजबली पाण्डेय
उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिंदी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन
हिन्दी भवन, एम. जी. मार्ग, लखनऊ

4. ए डिक्शनरी आफ मार्क्सिस्ट थाट : संपादक. टाम बोट्टोमोर
बेसिल ब्लेकवेल पब्लिशर्स लिमिटेड,
108, काउली रोड, आक्सफर्ड ओ एक्स 4
1 जे एफ, इंग्लैंड

अन्य लेख

1. सावित्री चन्द्र : "तुलसी साहित्य के सामाजिक परिवेश: एक मूल्यांकन" आलोचना, अंक 30, जुलाई-सितंबर - 1974

2. परेश : "मानस प्रसंग"
आलोचना, अंक 30, जुलाई-सितंबर - 1974

3. डॉ. रमेशकुंतल मेघ : "कार्ल मार्क्स के पाँच बीज शब्द"
आलोचना अंक 70, (मार्क्स विशेषांक)
जुलाई, सितंबर - 1984

x x x